"जन-जन दुःखी हों और मैं मुक्ति पा जाऊं, यह उचित नही ।.........धर्म का सार इसमें नही कि परलोक सुधरे, सार इसमें है कि यह जीवन सुधरे। धर्म 'करने' मे नही 'होने' में है।" वर्तमान समाज संरचना के लिए जिम्मेदार कौन ? कर्म या निहित स्वार्थ ? गरीब पूर्व-जन्म के कर्म के कारण गरीब या अछूत है कि समाज व्यवस्था ने उसे गरीब और छुआछूत में बाध रखा है ? जीवन जीने की कला क्या है ? संस्कार से मानव कैसे मुक्ति पा कर प्रतिक्रिया का जीवन छोड़े ? आदि कई गूढ़ विषयों पर नूतन, विचारोत्तेजक लेकिन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आकर्षक शैली व सरल भाषा में लेखक ने विचार प्रस्तुत किए है जो एक ओर धर्म की रुढियों एवं ठेकेदारों पर कुठाराघात करते हैं तो दूसरी ओर अत्याधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा एवं धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म को ढकोसला कह कर शिक्षा एवं जीवन से नैतिक मूल्यो को समाप्त करने वालो पर गहरी चोट करते है और इस बात पर जोर देते हैं कि धर्म को सम्प्रदाय के स्तर से ऊंचा उठा कर स्थाई जीवन-मूल्यों को महत्त्व दिया जावे। शिक्षा व सामाजिक वातावरण ऐसा हो कि धन व सुखोपभोग की सामग्री के संग्रह की दौड़ समाप्त कर चिन्तनशील, सजग व कर्तव्यनिष्ठ मानव व न्याययुक्त, सरल व संवेदनशील समाज के निर्माण की भूमिका बने।

मुझे मोक्ष नहीं चाहिए

रणजीतसिंह कूमट
आई. ए. एस.

MUJHE MOKSHA NAHIN CHAHIYE [ESSAYS]

by RANJEET SINGH KUMAT, I. A. S.

प्रकाशक : साहित्यागार,
एस.एम.एस. हाई-वे, जयपुर-302003 [भारत]

वर्ष : 1988
मूल्य : चालीस रुपये मात्र
मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर-3

परमश्रेष्ठ, स्वाध्याय शिरोमणि, पूज्य प्रवर्तक गुरुवर श्री सोहनलालजी महाराज साहब का अभिमत

'मुझे मोक्ष नहीं चाहिए' नामक प्रबन्ध पुस्तक का नाम पढकर चौंक गए। अटपटा-सा भी लगा। किन्तु इसमें निहित विचारों को पढ़ा तो ज्ञात हुआ कि मोक्ष बाद में, प्रथम कर्त्तव्य-पालन पर जोर है।

आज के इस भौतिकवादी युग में अधिकार एवं कर्त्तव्य-पालन के दो छोर मानव के सामने प्रस्तुत हैं। पहले कर्त्तव्य-पालन की सीढी पर कदम रखना होगा ताकि अधिकार की मंजिल पा सकें। किन्तु वर्तमान में मानव इससे विमुखता दिखा रहा है—सीधे ही मोक्ष में छलांग लगाने की सोच रहा है। यह उसकी भूल है। विद्वान् लेखक ने इसी भूल की ओर संकेत किया है।

श्री कूमट अपने विचारों को प्रत्येक लेख में सतर्क अभिव्यक्ति देकर जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया है अतः साधुवाद के योग्य है। उनका चिन्तन और भी निखरे एवं सत्य की भूमिका पर टिके रहें यही शुभकामना है।

पीसागन :
स्वतन्त्रता-पर्व
1988 ई.

भूमिका

इस पुस्तक के चिन्तन-शील लेखक श्री रणजीतसिंह कूमट मेरे दीर्घ-कालीन मित्र हैं, राज-कार्य में सहयोगी भी—रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक, जिसका शीर्षक है—"मुझे मोक्ष नहीं चाहिए", उनके समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का संग्रह है। 'मुझे मोक्ष नहीं चाहिए' इस संग्रह का प्रथम लेख है, और यही इस सम्पूर्ण पुस्तक का संवादी-स्वर भी है।

मोक्ष या मुक्ति की अवहेलना करने वालों मे प्रभु-भक्त पहले आते हैं। ब्रज की गोपियों को जब कृष्ण-सखा उद्धव ने ज्ञान और उसके प्राप्तव्य-मुक्ति का उपदेश दिया तो उन्होंने यह कह कर उसका प्रतिकार किया था कि :—

'ज्ञान-गांठ पाछी ही तुम ले जाओ ऊधो,
हमरे सुन्दर श्याम प्रेम को मारग सूधो।'

और उन सब भक्तों ने, जिनका गुण-ज्ञान श्रीमद् भागवत में किया गया है, प्रभु के प्रति समर्पित जन-सेवा को मोक्ष से अधिक वरणीय ठहराया है।

श्री कूमट के इन लेखों की मूल-भावना तो प्रभु की सृष्टि के प्रति समर्पण भाव मे सेवा ही है, परन्तु इस चिरन्तन सत्य का उन्होने सामयिक तथ्यों के सदर्भ में समर्थ प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं:

"मोक्ष पाने के लिए संसार को छोड जंगलों मे जाऊ, एकान्तवासी बनूं, तपस्या करूं, यह पलायनवादी दृष्टिकोण है या क्रियावादी ? तपस्या करके मुझे मोक्ष मिल जाएगा यह तो संदेहास्पद है ही, साथ ही प्रश्न यह है कि इससे अनेक गरीब, बीमार व दुःखी व्यक्तियों को क्या लाभ होगा ? जब तक मेरे तप से सबका दुःख दूर न हो तब तक तप से क्या लाभ है ?"

श्री कूमट का यह लेखन दर्शन और व्यवहार का समन्वय है। उन्होने अध्यात्म और धर्म की सृजनात्मक और व्यवहारवादी व्याख्या की है।

इस पुस्तक के काफी लेख जैन-दर्शन पर आधारित हैं, पर साम्प्रदायिकता का कोई आग्रह कहीं नही है। वे धर्म के उस राजमार्ग पर चले है जो किसी एक संप्रदाय विशेष का नही, पूर्णतः मानवीय है। अपने 'गरीबी' शीर्षक लेख मे भगवान् महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तो का और सहयोग-आधा-

रित समाजवाद का उन्होंने बड़ा स्वस्थ समन्वय बिठाया है और जैन धर्म के 'मिच्छामि दुक्कड़' 'खमावणा' 'सामायिक' आदि व्यवहारों का सामाजिक संदर्भ में बहुत अच्छा विवेचन किया है। प्रचलित धार्मिक वाक्यों और अभिव्यक्तियों से तात्त्विक अर्थों तक पहुचने का प्रयास उनकी अपनी विशेषता है।

मानव जाति का यह दुर्भाग्य ही है कि पुराने पीरों, पेगम्बरों, ऋषियों, महर्षियों और महात्माओं ने जो मार्ग मानवता को जोड़ने के लिए प्रतिपादित किए थे उनके अनुयायी उनका स्वार्थपूर्ण अर्थ निकालकर खुदा की खलकत को तोड़ रहे हैं। पर, समय-समय पर इन टूटती मानवता को फिर से सही रास्ते पर डालने के लिए वेदव्यास, बाल्मीकि, तुलसी, कबीर जैसे महात्माओं ने इन सिद्धान्तों में छिपे हुए आन्तरिक सत्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। मुझे खुशी है कि साथी कूमट का यह प्रयत्न उसी स्वस्थ दिशा की ओर उन्मुख है।

मेरी कामना है कि श्री कूमट अपने इस चिन्तन और प्रयास की दिशा में अग्रसर रहें और कवि, दार्शनिक और महात्मा कबीर के स्वर में स्वर मिला कर कह सकें :

"मो को कहां ढूंढे रे बन्दे ! मैं तो तेरे पास में,
ना मैं मंदिर ना मैं मसजिद ना काबे कैलास मे,
खोजी होय तो तुरते मिली हैं पलभर की तालास में,
कहे कबीर सुनो भाई साधो—
सब सांसों की सास मे"

—विष्णुदत्त शर्मा

जयपुर,
1 अगस्त, 1988.

दो शब्द

पुस्तक का शीर्षक चौंकाने वाला हो सकता है, स्वाभाविक भी है। जिस देश में धर्म और मोक्ष की संकल्पना को स्थापित करने तथा उसका प्रचार करने के लिये इतने महापुरुष हुए हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही जीवन के लक्ष्य बताए गये हैं वहां एक अदना-सा व्यक्ति कह रहा है–'मुझे मोक्ष नहीं चाहिए।' तो फिर क्या चाहिये ? जीवन का क्या लक्ष्य है या क्या होना चाहिये ?

ये प्रश्न सनातन हैं और हर युग में ये ही प्रश्न उभरते रहे हैं कि मैं क्यों पैदा हुआ ? मैं कौन हूं ? मेरा क्या लक्ष्य है ? आदि। कुछ लोगों ने इन प्रश्नों को खोजा, अपना जीवन इसमें लगा दिया। अन्य लोगों ने उन खोजने वालों के बताए मार्ग का अनुसरण किया और कुछेक ने इन प्रश्नों को व्यर्थ समझ कर उपेक्षा कर दी। जिन्होंने खोज की उन्होंने कुछ पाया भी। जिसने अनुसरण किया और अपना नेतृत्व करने वाले महापुरुष के शब्दों को पकड़ कर बैठ गया, वह कुछ दूर चल कर भ्रम में पड़ गया। जिसने इन प्रश्नों को व्यर्थ समझा वह कहां तक पहुँच कर भटका, कोई नहीं कह सकता। धन में खोया या जन में, त्याग में खोया या विलासिता में, जंगलों में भटका या समुद्र में कुछ नहीं कह सकते। हो सकता है अन्य निम्न स्तर के प्राणियों की तरह पैदा होकर, संतान पैदा कर, परिवार की नीव डालकर मर गया, हो सकता है कुछ भी नहीं कर पाया, अपना व अपने परिवार का पेट भी नहीं भर पाया और निराश होकर चल दिया।

प्रश्न है, हम किस श्रेणी में अपने आप को रखना चाहते हैं। प्रश्न का समाधान ढूंढना चाहते हैं या किसी के बताये मार्ग का अनुसरण करना चाहते है; या सोचते हैं कि ये प्रश्न सब व्यर्थ हैं। जो तीसरी श्रेणी में अपने आप को रखना चाहते हैं वे इस पुस्तक को आगे पढ़ने का श्रम न करें। जो दूसरी श्रेणी मे हैं वे सोचें कि अनुसरण अन्धा हो या स्वयं सोच कर चलें। यदि वे अन्धानुकरण ही करना चाहते हैं तो फिर इसे पढ़ना ठीक नहीं। व्यर्थ ही उलझन पैदा होगी। यदि स्वयं को मार्ग ढूंढना है तो आइये, आगे डुबकी लगायें, सहयात्रा करें।

धर्म और सम्प्रदाय के बीच काफी अस्पष्टता होने से धर्म के नाम पर सम्प्रदायवाद का विष इतना फैल गया है और इतनी हिंसा हुयी है व घृणित वातावरण बना है कि कई लोग धर्म के नाम से ही चिढ़ गये हैं। वे धर्म को ढकोसला, गरीबों की अफीम और पोंगापंथी बताते हैं। धर्म की इतनी रूढ़ियाँ और गड़बड़ाने वाली धारणाएं पैदा हो गई हैं कि वैज्ञानिक आधार पर उनमें विश्वास करना भी तर्कसंगत नहीं लगता। परन्तु, धर्म का अर्थ व स्वरूप सही रूप से न जानने और समझने से धर्म की कोई भी बात हो, रद्दी की टोकरी में डालते हैं जैसे कूड़े के साथ सोना फेंक देते हैं। धर्म का अर्थ रूढ़ियों, पूजा-पाठ या नमाज से नहीं है। ये सब रूढ़ियां हैं। सही स्वरूप जीवन जीने की कला है। मोक्ष को यदि मर कर पाया तो क्या पाया ? जीवित रह कर तो दुःख सहा और मर कर स्वर्ग की आशा करें, यह विडम्बना नही तो क्या है ?

धर्म के नाम पर सम्प्रदायों ने समाज को विभिन्न गुटों में बांट कर न केवल सम्प्रदाय का विष फैलाया बल्कि धर्म के स्वर्णिम सिद्वातों को स्वयं अनुभव न कर अन्धानुसरण करने से भ्रम, भ्रान्तियां और जीवन-धारा के कई ऐसे रूप पैदा कर दिये जो शुद्ध धर्म के ठीक विपरीत हैं। नियतिवाद या भाग्य-वाद का जन्म, निष्क्रियता और पलायन की प्रेरणा या अपने स्वयं की ही मोक्ष-सिद्धि में संलग्न होना आदि शुद्ध धर्म की प्रेरणा नहीं हो सकती, फिर भी धर्म के नाम पर ऐसी प्रवृत्तिया देखने को मिलेंगी। मोक्ष के लिये घर छोड़ा, परिवार छोड़ा और कर्तव्य छोड़ा। समाज व सेवा को छोड़ निष्क्रिय व निष्कर्म बनने चला। कार्य जो भी करोगे कर्म का बन्ध होगा, अतः कार्य ही बन्द करो तो कर्म ही नही बंधेगा। मोक्ष अकेला ही जा सकता हूँ, दूसरे साथ होंगे तो पत्थर की तरह बोझ होंगे। ये स्पष्ट आदेश या उद्देश्य किसी ने नहीं कहे, न कहे जा सकते हैं, परन्तु यह छाप विभिन्न व्यवहार व आचरणो मे देखने को मिलेगी। धर्म का सही स्वरूप खोजे व समझे बिना जो भी आचरण होगा, विकृतियां लिये हुए ही होगा।

धर्म को ढकोसला मानने वालो ने शिक्षा और जीवन-व्यवहार को धर्म-विहीन करने का बीडा उठाया है। धर्म निरपेक्ष शिक्षा मूल्य-विहीन शिक्षा हो गई। शिक्षा ने तकनीशियन, लेखक या चिन्तक तो पैदा किये परन्तु मानव पैदा नही किये। धर्म के बिना मानव मानव कैसे बन सकता है? धर्म-निरपेक्ष और मूल्य-विहीन शिक्षा समाज में मानव की बजाय पढे-लिखे भूत पैदा कर रही है, अतः धर्म को सम्प्रदाय से ऊपर उठा कर मानव धर्म को पुनः स्थापित करना आवश्यक है।

मानव मूल्यों और शुद्ध धर्म की जीवन में स्थापना की आवश्यकता आज समाज व राष्ट्र को जितनी है उतनी पहले कभी न थी। पश्चिम के प्रभाव

से शिक्षा व तकनीक का प्रचार-प्रसार तो हो रहा है परन्तु धर्म व जीवन के शाश्वत मूल्यों को स्थापित नहीं करने से युवा पीढ़ी दिग्भ्रमित हो रही है। दूसरी ओर, धर्म के झूठे मूल्यों को धर्म के नाम पर ठूंस कर भी समाज की हानि की जा रही है और समाज में अन्याय की जड़ों को मजबूत किया जा रहा है। अतः सही मूल्यों की स्थापना होना आवश्यक है। समाज में करुणा, अहिंसा, कर्म के प्रति आस्था की स्थापना करना और आपाधापी व धन-संग्रह की होड का नियंत्रण करना अत्यन्त आवश्यक है। यह केवल उपदेश से सम्भव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सोचे, अपने कर्तव्य को जाने व चिन्तनशील बने, यही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इसी से समाज का नव निर्माण होगा।

यदि चिन्तन को बढ़ावा मिलता है तो इस पुस्तक का उद्देश्य पूरा होगा। समाधान या उपदेश देना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते मन पर कुछ झटके भी लग सकते हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि पगडण्डी पर चलती गाड़ी यदि नयी राह ढूंढ़ने लगे तो झटका अवश्य देगी। हम घिसी-पिटी पटरी पर न चलें, यही उद्देश्य है पुस्तक का। झटके लगें तो सहन करें और झटके सहन करने की आदत डालें।

चिन्तन और अनुभव के आधार पर समय-समय पर लेख लिखे गये, जो पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे। कुछ मित्रों ने सुझाव दिया कि इन्हें पुस्तक रूप में संकलित कर छापा जाय। पहले काफी हिचकिचाहट रही, समयाभाव भी रहा, परन्तु मित्रों के सहयोग, प्रेरणा व सतत् प्रयत्न से वे लेख पुस्तक का रूप ले पाये। पुस्तक का उद्देश्य केवल चिन्तन को आगे बढ़ाने व खोज की राह पर आगे चलना है। इसमे कोई समाधान अन्तिम हो, ऐसा नहीं है। यदि समाधान-स्वरूप कोई बात लिखी भी है तो वह निजी विचार है। उसे ही अन्तिम न समझें, खोज के सूत्र तथा विचार आगे बढ़ाने हैं।

अब दो शब्द आभार के। सर्वप्रथम आभार अपने पूज्य पिताजी व माताजी का जिनके संरक्षण में संस्कार प्राप्त कर धर्म का स्वाद चखा तथा आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज व प्रवर्तक मुनि श्री पन्नालालजी का, जिन्होंने यह लेखनी पकड़कर कुछ लिखने की प्रेरणा दी। उनकी प्रेरणा के बिना लेखनी कभी उठी ही न होती। परन्तु इस पुस्तक में लिखी बातें उनके विचारों से मेल खाती हों यह भी आवश्यक नहीं। फिर आभार है, उन पत्र-पत्रिकाओं का जिन्होंने इन लेखो को छाप कर प्रोत्साहित किया और लिखने की उत्कण्ठा जगायी। उन्होंने छापा न होता तो और लिखने का साहस न होता। आभार है—विपश्यना आचार्य सत्यनाराणजी गोयनका का जिनके निर्देशन में 'विपश्यना' की पद्धति सीखी व धर्म का नया अनुभव किया। पुस्तक को यह स्वरूप देने में

डॉ० रतनलाल नौलखा का आभारी हूँ। उनकी सतत लगन और व्यक्तिगत प्रयत्न से ही आज यह पुस्तक बन पाई है। डॉ० नरेन्द्र भानावत ने छपे हुए लेखों को एकत्र करने का श्रम किया जिससे ये बिखरे मोती सूत्र-बद्ध हुए। प्रकाशक श्री रमेश वर्मा आभार के पात्र हैं; क्योंकि आगे होकर आज नहीं 5-7 वर्ष पूर्व ही उन्होंने प्रस्ताव किया था कि मेरे लेखों को वे पुस्तक रूप में लाना चाहते हैं। उन्होंने व्यक्तिगत रुचि लेकर इस प्रकाशन को सम्भव बनाया है। श्री अनन्त कुशवाहा व श्री महेन्द्र जैन ने आवरण पृष्ठ व सम्पादन में सहयोग दिया, एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्तिम, परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण आभार मेरी जीवन-संगिनी सुमन तथा बच्चों के प्रति, जिन्होंने इन लेखों को काफी आलोचनात्मक दृष्टि से देखा और समय-समय पर संशोधन की प्रेरणा दी।

—रणजीत सिंह कूमट

20-सी, हीराबाग,
रामसिंह रोड़, जयपुर।
27, अप्रैल, 1988.

अनुक्रम

अक्षय सुख कहां मिल सकता है ? कोई कहता है मोक्ष में, कोई कहता है स्वर्ग में, और कोई कहता है निर्विकल्प समाधि में।

यह सुख कैसा है ? सुना है, जन्नत में वह सब कुछ है जिस की इच्छा हम इस दुनिया में करते है—परियां हैं, धनधान्य है, सुख-संपदा है, स्वर्ग में देवता देवियों के साथ रमण करते है।

निर्विकल्प समाधि ऐसी स्थिति है जहां मन में कोई विकल्प नही उठता और मोक्ष पाने के वाद जन्म और मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है। आत्मा स्वयं परमात्मा का पद प्राप्त कर लेती है।

मोक्ष का सारहीन आधार

प्रश्न उठता है कि समाधि और मोक्ष से यदि हूरें और परियां या देवियां जन्नत में मिलने वाली हैं तो मैं उनको यही क्यों न प्राप्त कर लूँ ? यदि देवियों और धनधान्य आदि में रमण करना ही सुख है तो संसारिक वस्तुओं से क्या दुख हो सकता है ? मोक्ष पा कर भी क्या करूँगा ? अशरीरी, अरूपी होकर निष्क्रिय हो जाने में भी क्या लाभ है ?

मोक्ष पाने के लिए संसार को छोड़ जंगलों में जाऊँ, एकांतवासी बनूँ, तपस्या करूं, यह पलायनवादी दृष्टिकोण है या क्रियावादी ? तपस्या कर के मुझे मोक्ष मिल जाएगा यह तो संदेहास्पद है ही, साथ ही प्रश्न यह है कि इस से अनेक गरीब, बीमार एवं दुःखी व्यक्तियों को क्या लाभ होगा ? जब तक मेरे तप से सब का दु.ख दूर न हो तब तक तप से क्या लाभ है ? क्या यह मान लिया जाय कि जो दुःखी है उनका दुख दूर करना धर्म नही है ? या यह मान लिया जाए कि 'मैं सुखी तो जग सुखी ?'

मैंने अनेक पुस्तकें पढ़ी, सारे धर्म-शास्त्रों का अध्ययन किया। शास्त्रों का विवेचन भी मैं अच्छा तरह कर सकता हूं। इसके लिए मैंने अपना पूरा जीवन लगा दिया, पर इसका लाभ क्या हुआ ? किसका

दुःख दूर हुआ ? गरीब अपनी गरीबी में पिस रहा है और मैं उसकी ओर से आंखें मूंद कर ज्ञान की प्राप्ति में लगा हूं।

पर क्या मैं निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त कर सकता हूं ? यदि यह माना जाता है कि समाधि की दशा में आत्मानुभूति व्यापक हो जाती है, तो प्रत्येक प्राणी की अनुभूति हमारी आत्मा में प्रतिलक्षित होनी चाहिए। जब तक कोई प्राणी दुःखी है और उसका दुःख मेरी आत्मा में प्रतिलक्षित होता है तो मैं कैसे समाधि प्राप्त कर सकता हूं ? यदि मैं अनुभूति को संकुचित कर लूं, सिर्फ अपने सुख-दुःख की ही सोचूं तो वह पूर्ण अनुभूति नहीं कहला सकती।

स्वामी विवेकानन्द को उन के गुरु ने यह ज्ञान दिया था कि निर्विकल्प समाधि के चक्कर में मत पड़ना, तुम्हें उससे भी बढ़ कर *कार्य करना है।*

भक्ति का उपयोग क्या है ?

एक जगह विवेकानन्द ने कहा है, "मैं उस भगवान या धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवाओं के आंसू पोंछ नहीं सकता हो और अनाथों के मुंह में रोटी का टुकड़ा नहीं पहुंचा सकता हो।"

"कर्म, कर्म, कर्म, आदर्श जीवनयापन करो। सिद्धांतों और मतों का क्या मूल्य है ? दर्शन, योग, तपस्या, पूजागृह, अक्षत, चावल या शाक का भोग—ये सब व्यक्तिगत अथवा देशगत धर्म हैं। किन्तु दूसरों की भलाई और सेवा करना एक महान सार्वलौकिक धर्म है। आबालवृद्ध-वनिता, चांडाल यहां तक कि पशु भी इस धर्म को ग्रहण कर सकते हैं। क्या मात्र किसी निषेधात्मक धर्म से काम चल सकता है ? पत्थर कभी अनैतिक कर्म नहीं करता, गाय कभी झूठ नहीं बोलती, वृक्ष कभी चोरी-डकैती नहीं करते, परन्तु इससे क्या होता है ? माना कि तुम चोरी नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, न अनैतिक जीवन व्यतीत करते हो, बल्कि चार घंटे प्रतिदिन ध्यान करते हो और उससे दो गुना समय भक्तिपूर्वक घंटी बजाते हो; परन्तु अन्त में इनका क्या उपयोग ?"

"काम के बिना केवल व्याख्यान क्या कर सकता है ?"

"यदि मैं तमोगुण में डूबे हुए अपने देशवासियों को कर्मक्षेत्र द्वारा वास्तव में मनुष्य की तरह अपने पैरों पर खड़ा कर देने में समर्थ हूं तो मैं आनन्द के साथ लाख बार नरक में जाऊंगा। मैं तुम्हारे राम, कृष्ण या अन्य किस का अनुसरण करने वाला नहीं हूं। मैं सिर्फ उसका अनुसरण करता हूं जो मेरी योजनाओं को पूरा करवाता है। जो लोग अपनी मुक्ति की कामना छोड़ दूसरों की सेवा करते हैं, मैं उन्हीं का चेला हूं।"

मदर टेरेसा का जीवन कितना त्यागमय है। वह निःस्वार्थ भाव से दिनरात उनकी सेवा में लगी हैं जिन्हें हमारे समाज ने त्याग दिया।

दूसरी तरफ साधु हैं। अपने-अपने झुण्डों और मठों की राजनीति में व्यस्त। वहां का वातावरण वास्तविक कर्म, दिखावटी अधिक होता है। कुछ समाज से कट कर अपने ज्ञान-ध्यान में मस्त हैं तो कुछ तथाकथित भक्तों को बहकाने में व्यस्त हैं। धर्म को इन्होंने मन्दिरों में, मस्जिदों में बसा दिया है। दिन भर कैसा ही व्यापार और व्यवहार कर लो, सुबह-शाम भगवान के दरवाजे पर घंटी बजा कर पुकारते रहो, कभी तो सुनेगा।

अजामिल कसाई ने जीवन भर नहीं पुकारा, अन्त समय में अपने लड़के 'नारायण' को पुकारा। लेकिन उसको भी भगवान ने अपना भक्त मान कर स्वर्ग दे दिया। तो क्या जिन्दगी भर भगवान के दरवाजे पर दस्तक देने से भी भगवान नही मिलेगा?

मदर टेरेसा जैसा सेवा का कार्य बहुत कठिन है। घर छोड़कर साधु बनना आसान है; क्योंकि जब धर्मपरायण जनता भिक्षा दे ही देती है तो फिर और क्या चाहिए? इस त्याग से इस जन्म में पेट भरने का बीमा होगा ही, अगले जन्म की बुकिंग भी हो जायेगी। दुनिया पांव भी पकड़ेगी और वाहवाह भी करेगी। मठाधीश होने से मन्दिर तो अपना ही है। धर्म का धर्म, कर्म का कर्म और अगले जन्म की गारन्टी।

एक बार मैं एक पहुंचे हुए साधु से मिला, अपनी दु:ख गाथा कही। उन्होंने बताया कि पिछले जन्म के कर्म ही तुम्हें दुःख दे रहे हैं

ग्रौर उन कर्मों के प्रभाव को मिटाना है तो तप करो।

पर इससे मेरे दुःख का समाधान नहीं हुआ। भारत में 75 करोड़ व्यक्ति हैं। सरकारी आंकड़े कहते हैं कि दो-तिहाई से ज्यादा लोगों की इतनी भी आय नहीं है कि वे अपना जीवननिर्वाह कर सकें। इतनी भयंकर गरीबी केवल इसी देश में है। अमरीका में भी गरीब हैं। लेकिन वहां का गरीब व्यक्ति भी यहां के अमीर कहलाने वाले व्यक्ति से ज्यादा धन कमाता है।

यह गरीबी, जो केवल भारत में है, क्या कर्मजन्य है? सब खराब काम करने वाले क्या भारत में ही पैदा होते हैं? अमरीका, यूरोप, रूस में नहीं! चीन में भी गरीबी थी, पर आज वहां कोई इस स्तर की जिंदगी नहीं बिताता जैसी कि भारत के अधिकांश लोग बिताते है। अछूत केवल भारत में ही पैदा होते है। सफाई का काम अन्य देशों में भी होता हैं। लेकिन वहां वर्णवाद नहीं है। यह व्यवस्था केवल भारत में ही है और एक वर्ग जन्म भर कलंक का टीका लगाकर घूमता है।

हम इस जन्म में अपने पिछले जन्म के कर्मों का ही फल भोग रहे हैं, अधिकतर भारतवासी ऐसा सोचते है, इसलिए उन्हें अपने जीवन से कोई शिकायत भी नहीं है। वे अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते भी चलते हैं तो एक आवाज आती है—'क्यों व्यर्थ प्रयत्न करता है, जो भाग्य में लिखा है, उससे अधिक क्या मिलेगा?' पांव वहीं थम जाते हैं। इसी वजह से समाज में शोषित और शोषक दो वर्ग बन गये। मान लिया गया है कि एक अपने पूर्व कर्मों के फलस्वरूप दुख पा रहा है और दूसरा सुख। यह शोषक वर्ग धर्म का पक्का अनुयायी है, पूरा दानवीर। धर्म और निष्ठा से काम करते हुए जो भूखों मरते रहे, वे कर्महीन कहलाए।

कथनी करनी में अन्तर क्यों?

साधु भी रोज व्याख्यान देते हैं कि धन एक सीमा से अधिक न जोड़ो, गरीबों की सहायता करो, दान करो, मिलावट मत करो, सूद-

खोरी मत करो। सुनने वाले रोज सुनते है। सुन कर बाहर चले जाते हैं और सारे उपदेश वहीं छोड़ जाते हैं। इसमें सुनने वाले का भी क्या दोष है। वह यदि वही करे जो साधुजी कहते हैं तो वह खुद भी भूखा-नंगा हो जाएगा। इससे तो अच्छा है कि धन भी कमाए (चाहे कैसे भी आए) और उसका कुछ अंश दान भी देदे तो समाज में उसका नाम भी ऊंचा हो जाएगा।

धर्म-कर्म को ऐसा मोड़ा गया है कि स्वय के लिए व्यवहार कुछ और दूसरों लिए कुछ। व्याख्यान देने वाले भी सोचते हैं कि यदि ज्यादा सख्ती से काम लिया तो जो व्याख्यान सुनने आते है वे भी भाग जाएगे। अतः उपदेश देते रहो, कभी तो असर होगा ही। न भी हो तो क्या, अपनी आत्मा निर्मल है। दूसरों के व्यवहार में हस्तक्षेप कैसे कर। ससार त्याग चुके हैं, अतः सांसारिक मामलों में अधिक दखल देना नियम के विरुद्ध भी है।

सोचता हूं, मैं मोक्ष की कामना क्यों करूं ? निष्क्रिय व अशरीरी क्यों बनूं ? क्यों नही जीने की कला सीखूं और जनमानस की सेवा करूं। पर इससे शायद मोक्ष न मिले। कोई बात नही। सेवा से मुक्ति नहीं नरक ही मिले तो अच्छा है। परन्तु, जन-जन दुखी हों और मैं ससार त्याग कर उससे उदासीन हो जाऊं और उससे मुक्ति पा जाऊं, यह भी उचित नहीं।

□

बन्धन और मुक्ति

च्यूवा वर्ग का तर्क है कि सारी धर्म या कर्म की व्याख्या इस आधार पर है कि पूर्व जन्म है और पुनर्जन्म होता है। यदि यह पुनर्जन्म की अवधारणा हटा ली जावे तो धर्म और कर्म का आधार समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार यदि कर्मों का अन्तिम निर्णय करने वाला ईश्वर, ईसा या खुदा न हो तो भी धर्म का आधार समाप्त हो जाता है।

परन्तु धर्म और कर्म केवल पुनर्जन्म पर आधारित नहीं हैं और इसे अधिक तर्कशील तरीके से समझाया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति बंधन पसन्द करेगा या मुक्ति? अवश्य ही मुक्ति पसन्द करेगा। अब प्रश्न है—बन्धन किस में है और मुक्ति किस में है? बन्धन का अभाव मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ आजादी से है। बंधन राग व द्वेष या आसक्ति मे है और आजादी इसके अभाव में है।

इसको अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। हम अपनी इन्द्रियों के माध्यम से बाहरी जगत का अवलोकन एवं आस्वादन करते है। जब आस्वादन के साथ किसी वस्तु या रूप को पसन्द करते है या घृणा करते है, यही पसन्द और घृणा से वस्तु के साथ राग और द्वेष प्रारम्भ होता है और यही से बन्धन प्रारम्भ हो जाता है। किसी वस्तु को हम चाहते हैं क्योंकि रूप अच्छा है या रंग या शब्द या स्पर्श या स्वाद अच्छा है, जब किसी चीज या रूप रंग या स्वाद को चाहते हैं और वह मिल जाती है तो खुशी होती है। कुछ देर सुख का आभास होता है। परन्तु जब वह चाही चीज न मिले या मिली हुई चीज गायब हो जावे तो दुःख होता है। जो चीज सुख का आभास दे रही थी, वही दुःख का कारण बन गई। यदि उस वस्तु की चाहत न होती तो उसके मिलने पर सुख नही होता और जाने पर दुःख भी नहीं होता।

उदाहरण के लिए घर में बालक का जन्म हुआ। खूब खुशियां मनाईं। कुछ दिन बाद बच्चा मर गया। अतीव दुःख हुआ। परन्तु क्या इतनी ही गहराई से खुशी या दुःख किसी पड़ौस या जानकार के घर इसी प्रकार की घटना घटने पर होता है? नहीं। क्योंकि, वहां चिपकाव या आसक्ति नही थी।

जैसे चाहत से आसक्ति या बन्धन है, उसी प्रकार अवांछित वस्तु के संयोग से दुःख होता है। आसक्ति या मूर्च्छा से ही राग व द्वेष का जन्म होता है और वही हमारे दुःख व सुख का कारण है। यही संसार के चक्र में (दुःख के चक्र में) घूमते रहने का कारण है।

आचारांग सूत्र में बहुत ही सूत्र रूप में इसी मर्म को समझाया है :

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे।	जो गुणो अर्थात् मूर्च्छित है वह आवृत्ति करता है। जो आवृत्ति करता है वह गुणो अर्थात् मूर्च्छित है।
उड्ढं अहं तिरियं पाइणं पासमाणे रुवाइं पासति,	(कोई व्यक्ति) ऊपर की ओर, नीचे को ओर, तिरछी ओर तथा सामने रूप

सुणमाणे सद्दाइं सुणेति ।

को केवल देखता है, शब्द को केवल सुनता है ।

उड्ढ अहं तिरियं पाईणं
मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति
सद्देसु आवि ।

(किन्तु कुछ) ऊपर को ओर, नीचे तिरछे व सामने की ओर रूप व शब्द में मूर्च्छित होकर देखते व सुनते हैं ।

एस लोगे वियाहिए ।
एत्थ अगुत्ते अणाणाए
पुणो पुणो गुणासाए
वंकसमायारे पमत्ते गारमावसे ।

यह मूर्च्छा ही संसार है और वह जो मूर्च्छा में है, आज्ञा में नहीं है और पुनः मूर्च्छा में होने से प्रमादी है और संसार रूपी घर में निवास करता है—अर्थात् आवृत्ति करता है ।

आचारांग सूत्र—प्रथम अध्याय/पंचम उद्देशक

आसक्ति और वैर या राग-द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । किसी वस्तु या व्यक्ति से राग है तो विपरीत वस्तु से द्वेष अवश्य होगा । इसी प्रतिक्रिया में जीवन बिता देते हैं । कभी अपना जीवन जीने का समय ही नहीं मिलता । या तो हम चाहत की खोज में रहते हैं या अनचाहे को हटाने में लगे रहते हैं । परन्तु जो उपलब्ध है, उसके उपभोग का आनन्द यदाकदा ही उठा पाते हैं ।

लखपति इस फिक्र में रात-दिन बिताता है कि वह करोड़पति कैसे बने ? परन्तु यह कभी नहीं देखता कि जो लाख रुपये हैं उसका उपभोग कैसे करूं ? इसी मनोव्यथा में करोड़ भी कर लेगा तो आगे की मंजिल ताकेगा, न कि वर्तमान का लाभ उठावेगा ।

जब आसक्ति छोड़ दृष्टाभाव से देखने की कोशिश करेगा, तब ही उसे सुख का अनुभव होगा । यह सुख ऐसा होगा जिसमें वर्तमान की वस्तु गायब भी हो गयी तो भी उसे अनित्य मानकर दुःख अनुभव नहीं करेगा । जो वस्तु है, उसमें मूर्च्छित होने पर ही दुःख होता है या वांछित वस्तु न मिलने पर दुःख होता है । इसी प्रकार अवांछित वस्तु के मिलने से या वांछित वस्तु के वियोग पर दुःख होता है । यह सब इसलिए कि हम कुछ चाहते हैं । चाहते न हों तो दुःख कैसा ?

सुख व दुःख मन की स्थिति है। मन जैसा माने वैसा ही अनुभव होगा। सुख या दुःख सापेक्षिक है। मन की स्थिति आसक्ति या बन्धन में है तो दुःख या सुख का आभास होगा और अनासक्ति में तो सुख होगा न दुःख, केवल समभाव होगा।

समभाव में रमण ही बन्धन का अभाव या मुक्ति है। मुक्ति मरने पर मिलेगी, इस खोज में जो घूमते हैं वे जीवन का आनन्द ही नहीं ले पाते। मुक्ति यदि इस जीवन में नही मिली तो मुक्ति का अर्थ ही नही है। मुक्त जीवन में ही स्थायी आनन्द है। जीवन मुक्त होकर जीयें, यह लक्ष्य हो तो जीवन सार्थक है। अगले जन्म के लिए जीना निरर्थक है, क्योंकि यह जन्म ही नहीं सुधरा तो आगे का कैसे सुधरेगा ? बीज ही खराब है तो वृक्ष या फल अच्छा कैसे होगा ?

धर्म का सार इसमें नहीं कि परलोक सुधरे, सार इसमें है कि यह जीवन सुधरे और इसे बन्धन से मुक्त होकर जीयें। आसक्ति बन्धन है और समभाव मुक्ति है।



व्यक्ति जब गाली देता है तो क्या उसकी मनःस्थिति स्वाभाविक है? यदि इसको भी पागल की मनःस्थिति के समान मान लिया जाये तो शायद गाली देने वालों पर भी हम क्रोध न करें।

दुःख और सुख हमारे दृष्टिकोण और मनःस्थिति पर निर्भर हैं। कांटा चुभने पर दर्द होता है, परन्तु इन्जेक्शन लगवाने पर दर्द महसूस करते हुए भी खुशी से लगवाते हैं। सूई लगने पर दर्द होता है, उससे कम चींटी काटने पर होता है, परन्तु चींटी काटने से भी हम कितने विचलित हो जाते हैं। इसलिए महावीर ने कहा है—

अप्पा नइ वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा काम दुहाधेणु, अप्पा मे नन्दनं वनं।।

नरक की वैतरणी नदी और सामली रूपी कांटेदार वृक्ष, महान् दुःखकारी वस्तुयें बताई हैं तथा कामधेनु और नन्दन वन सुखकारी वस्तुयें मानी गई हैं। ये दुखकारी और सुखकारी वस्तुयें हमारे अन्दर ही हैं। हम अपने कार्य एवं विचार से दुःख पाते हैं और अपने ही कार्य एवं विचार से सुख पाते हैं। हम अपने अन्दर ही सौम्य नन्दनवन खोज सकते हैं और अपने ही अन्दर दुःखदायी पेड़ भी उत्पन्न कर सकते हैं। यह सब हमारी भावना पर आधारित है।

दुःख और सुख भी सापेक्षिक हैं। बिजली चली जाती है तो हम दुःखी हो जाते हैं। गांवों में बिजली नहीं होती है तो भी ग्रामीण खुशी से प्राकृतिक हवा खाकर बिताते हैं और शिकायत भी नहीं करते। ट्रेन चलने में या कहीं पर पहुंचने में देर हो गयी और हम दुःखी होकर समस्त प्रशासन आदि सबको आड़े हाथों ले लेते हैं, यद्यपि उस चिन्तन और बकवास का कोई लाभ नहीं। इसी चिन्तन से हम दुःख का अनुभव करते हैं। उसी को यदि सहनशील बन, समय का सदुपयोग पढ़ने में कर लें तो दुःख सुख में परिवर्तित हो सकता है।

यह सब जीवन के दृष्टिकोण और स्वभाव पर निर्भर करता है। एक कप हमारे हाथ से टूट जाता है—पश्चाताप कर बात को समाप्त कर देते हैं। यदि दूसरे से टूट जाता है तो उसको न जाने क्या-क्या

कह डालते हैं। स्वयं से त्रुटि हो जाय तो उसको भूल कहते हैं। दूसरे से त्रुटि हो जाय तो उसको स्पष्टीकरण का मौका भी नहीं देना चाहते।

लाभ प्राप्त करने की लालसा से कभी हम किसी के दबाव में आते हैं, कभी किसी को चापलूसी करते हैं तो कभी कपट या धोखा करते है, कभी हिंसा भी करते है। हम एक क्षण के लिए सोचें कि लाभ प्राप्त करने का उद्देश्य क्या है और यदि न मिला तो क्या हानि हो जायेगी? यदि लाभ से तनिक दृष्टि हटा लें तो अपने आप को गिराने की बजाय हम अपना स्वाभिमान ऊँचा कर लेंगे। एक फकीर बादशाह की परवाह नहीं करता बल्कि बादशाह फकीर को सलाम करता है। इसका कारण यह है कि फकीर को बादशाह से कुछ नहीं चाहिए। वह अपने आलम में मस्त है।

जो बात फकीर पर लागू होती है वह हम पर भी लागू होती है। हम सब फकीर तो नहीं बन सकते, लेकिन अपने लोभ को सीमित कर उचित व अनुचित कार्य में भेद कर लें तो हम वर्तमान में भी सुखी हो सकते है।

धनिक व्यक्ति ने धन एकत्रित किया। एकत्र करने में न जाने क्या-क्या कष्ट उठाये और न जाने किन-किन को सताया। अब धन सुरक्षा की चिन्ता कि सरकार या लुटेरे न ले जावें। पुण्य कमाने और परभव सुधारने के लिए नामवरी का दान-पुण्य भी शुरू किया। परन्तु तुलना कीजिये कि अनेकों लोगों का शोषण कर एकत्र किये धन में से कुछ दान देने से क्या होगा? पहिले कष्ट से संचय किया और अब संरक्षण में कष्ट और परभव की चिन्ता में दान का ढोंग? कोटि बंदों को प्यास छीनकर कुछ बूँद पानी के दान से क्या होगा?

यदि संचय करने की प्रवृत्ति पर ही रोक लगाई होती तो इतना दुःख ही नहीं होता। संचित धन का उपभोग भी सुख से नहीं कर सकते, क्योंकि चिन्ता हर वक्त बनी रहती है। इसके विपरीत को न चोर का डर है न सरकार का।...

क्रोध, मान, माया, लोभ समूल नष्ट हो जावे तो मोक्ष मिल सकता है, ऐसा शास्त्र कहते हैं। शायद ये इस जीवन में समूल नष्ट न हों। मोक्ष में हम जा सकें या नहीं, यह भी प्रश्न है, जिसका उत्तर कोई नहीं दे सकता। मोक्ष हमने देखा नहीं, अतः विश्वास भी करें या न करें। लेकिन इन कषायों को सीमित करने से व नियन्त्रण में रखने से जीवित ही सुख मिल सकता है, यह अनुभवगम्य है। इस अनुभूति को यदि हम जीवित मुक्ति भी कहें तो अनुचित न होगा। परभव में हम मोक्ष जायें या नहीं, इस चिन्ता को छोड़ यदि जीवित ही मुक्त की तरह रह सकें तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। किसी कवि ने कहा है—

सुख दुःख दोनों बसत हैं, ज्ञानी के घट माँहि,
गिरि सर दीसे मुकुर में, भार भींजवो नाँहि।

दुःख और सुख दोनों ज्ञानी के अन्दर हैं। पर्वत व तालाब जैसे कांच में दिखते हैं, परन्तु कांच पर्वत की छाया के भार से दबता नहीं और तालाब के प्रतिबिम्ब से भीगता नहीं, इसी प्रकार ज्ञानी भी सुख में फूलता नहीं और दुःख में विचलित नहीं होता। भूतकाल को भुलाकर और भविष्य की चिन्ता किये बिना जो वर्तमान में जीते हैं, वे ही ज्ञानी कहलाते हैं।

इसी को सूत्र-रूप में जीवन का सार दिया है—

गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वांछा नाँहि।
व मान वर्ते सदा, सो ज्ञानी जग माँहि॥



में बाहरी तत्त्व ताप का संयोग व ऑक्सीजन है, परन्तु वस्तु का स्वयं का निहित ताप इस बात को निर्धारित करेगा कि उस वस्तु में आग लगेगी या नहीं लगेगी और यदि लगेगी तो कितनी देर से। आग लगने के बाद बुझाना हो तो ऑक्सीजन की पूर्ति रोकने से आग बुझ जावेगी। पानी से सामान्य आग बुझ जाती है परन्तु जिनका निहित ताप पानी से भी कम नहीं किया जा सकता, उस आग को पानी भी नहीं बुझा सकता, जैसे पेट्रोल, बिजली या रसायन की आग।

क्रोधाग्नि का सिद्धान्त :

क्रोध जीवन का अभिशाप है। इससे कटुता आती है, मैत्री का नाश होता है और अपनी स्वयं की समता समाप्त होती है।

आग का सामान्य सिद्धान्त इसलिए विवेचित किया कि हम इसी आधार पर अपनी क्रोधाग्नि के बारे में समझ सकें। हम में क्रोधाग्नि कैसे लगती है ? हम कब भड़कते हैं ? जो सिद्धान्त वस्तु में आग लगने पर लागू है वही हम पर भी लागू होता है। कोई व्यक्ति बहुत जल्दी आगबबूला हो जाता है तो कोई व्यक्ति बहुत कुछ कहने पर भी शान्त रहता है। कोई व्यक्ति समझाने पर भी शान्त नहीं होता और कोई थोड़ी देर के क्रोध के बाद एकदम शान्त हो जाता है।

क्रोध का विश्लेषण करें तो पता लगता है कि क्रोध का भी वही सिद्धान्त है जो आग का है। क्रोध का किसी भी व्यक्ति में जो निहित तत्त्व है वही यह निर्धारित करता है कि वह व्यक्ति कितना जल्दी क्रोध से ज्वलित होगा। फार्मूला इस प्रकार लिख सकते हैं :

क्रोध का निहित तत्व + बाहर का भड़काने वाला प्रसंग + क्रोध को जारी रखने में सहायक तत्त्व

जिस व्यक्ति में निहित क्रोध अधिक है वह जरा-सा सयोग मिलते ही क्रोधित हो जावेगा। वही प्रसग अन्य कई व्यक्तियों को क्रोधित करने मे सफल नहीं होगा। जो मुनि शान्त होते है, उनको कितना ही भड़काया जावे, क्रोधित नही होते। क्रोध प्रारम्भ होने के बाद एक अन्य

क्रिया अन्दर शुरू हो जाती है—क्रोध के उत्तरोत्तर बढ़ने की। उसी में व्यक्ति तनावग्रस्त होकर क्रोध करता ही जाता है। इस प्रकार का क्रोध कभी-कभी उस व्यक्ति की जान भी ले बैठता है। क्रोध कितनी देर चलेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि वह प्रेरक प्रसंग कितनी देर तक उपस्थित है। उदाहरणार्थ, दो व्यक्तियों में झगड़ा प्रारम्भ हो गया। यदि इनमें से एक चुप हो जाय या प्रस्थान कर जाय तो जल्दी क्रोध समाप्त हो सकता है, लेकिन यदि दोनों बराबरी से क्रोध करते रहें तो आग उत्तरोत्तर बढेगी, घटने का सवाल क्या? निहित क्रोध भी सापेक्ष तत्त्व है। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति यदि पूर्वाग्रह या द्वेष हो तो जल्दी क्रोध जागता है, परन्तु उसके प्रति राग या मोह है तो क्रोध देर से या नहीं जागता है।

क्रोध की जड़ हमारे में है :

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि क्रोध बाहरी तत्त्व के संयोग से अवश्य प्रकट होता है, लेकिन जब तक हमारे में क्रोध का तत्त्व निहित नही होगा तब तक बाहरी संयोग कुछ नहीं कर सकता। अतः क्रोध की जड़ हमारे में है न कि किसी अन्य में। अधिकतर किसी भी झगड़े या क्रोध की बात का दोष हम दूसरे पर डाल कर यह समझने की कोशिश करते हैं कि यदि उसने कुछ न कहा होता तो मुझे क्रोध न आता, लेकिन यह भुलावा मात्र है। क्रोध की जड़ जब तक हममें है, हम क्रोध से मुक्त नहीं हो सकते। जब क्रोध का प्रसग आवे और क्रोध न भड़के तब ही हम कह सकते हैं कि हम क्रोध का शमन कर सके हैं। अभ्रक के समान यदि आग न लगने की क्षमता हो जाय तब ही समझना चाहिए कि क्रोध शान्त हुआ।

आचार्य रजनीश ने एक मजेदार बात कही है। उन्होंने कुछ व्यक्तियों से कहा कि आप एक कमरे में बन्द होकर खाली तकिये को छड़ी से पीटिये। कुछ देर तो वे उसे कुतूहलवश पीटते रहे, लेकिन कुछ ही देर में वे इतने आगबबूला हो गये कि तकिये को पीटते-पीटते स्वयं बेहाल हो गए। यह इसी बात का द्योतक है कि हम में निहित क्रोध

ही क्रोध का जन्मदाता है। वाहर के प्रसंग निमित्त मात्र हैं। यही वात अन्य कपाय ,यथा-मान, माया, लोभ पर भी लागू होती है।

क्रोध का शमन :

क्रोध के शमन का लक्षण यह नहीं कि लम्बे समय तक क्रोध नहीं आया, परन्तु सही लक्षण यह है कि कि काफी उत्तेजना दिलाने पर भी क्रोध प्रकट न हो। क्रोध का दमन हो सकता है, प्रसंग न हो तब तक क्रोध प्रकट न हो, यह भी सम्भव है; लेकिन क्रोध समूल नष्ट हो जाय, यह बहुत कठिन साधना है।

क्रोध का शमन बहुत बड़ा तप है। शुभचन्द्राचार्य ने तो यहां तक कह दिया कि यदि क्रोध का शमन नहीं किया तो सब तप व्यर्थ हैं :

यदि क्रोधादयः क्षीरास्तदा किं क्लिश्यते वृथा ॥
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्य पार्थकम् ॥

—ज्ञानार्णव, अध्याय 19, श्लोक 76.

हे मुनि ! यदि क्रोधादिक कपाय क्षीण हो गए है तो तप करके खेद करना व्यर्थ है, क्योंकि क्रोध को जीतना तप है। और यदि क्रोध तेरे में स्थिर है तो तेरा तप करना व्यर्थ है; क्योंकि कपायो का तप करना व्यर्थ ही होता है।

क्रोधादिक कपायों पर विजय के विना धर्म की वाह्य क्रियायें दिखावा मात्र हैं। अतः हमारा ध्यान इस ओर जाना चाहिये कि हम किस प्रकार अपने कपायों को कम कर सकते हैं। वाहरी प्रसंग के होते हुए भी क्रोध न आवे तब ही क्रोध का शमन किया जाना कहलावेगा, अन्यथा दमन ही कहलावेगा। दमन किया हुआ कपाय अधिक तीव्रता से फूटता है। यदि किसी व्यक्ति की वात पर हमें क्रोध आया और उसको किन्हीं कारणों से प्रकट नहीं करके अन्दर दमन किया तो वह इकट्ठा होता रहता है। इसे घुटन कहते है और मौका पाकर या तो वह फूट पड़ती है या अधिक घुटन से अन्य मानसिक रोग हो जाते है।

स्वास्थ्य-के लिए या सामान्य दैनिक व्यवहार में भी क्रोध के शमन के बिना सफलता नहीं मिलती। जो लोग क्रोध के वशीभूत होते है उनको

रक्तचाप, अपच, हृदय रोग आदि बीमारियां हो जाती हैं। जो क्रोध तो करते हैं पर प्रकट नहीं कर पाते (विशेषकर कमजोर या स्त्री वर्ग में), उनमें मानसिक रोग, जैसे–हिस्टीरिया, शिजोफेरेनिया आदि, मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। सामान्य व्यवहार में भी जो व्यापारी या अफसर क्रोध करते हैं, वे आगे सफल नहीं हो पाते। अतः क्रोध का शमन धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं, व्यावहारिक एवं चिकित्सा के दृष्टिकोण से भी आवश्यक है। क्रोध शमन की जिम्मेदारी हमारे ऊपर है। अन्य को दोष देना कि उसने क्रोध दिलाया, उचित नहीं है।

क्रोध से बचाव :

जिस व्यक्ति या बात पर हमें क्रोध आया, उसका निष्पक्ष विश्लेषण करके क्रोध की जड़ तक पहुँचना चाहिए, तब ही क्रोध के शमन का उपाय किया जा सकता है। कई बार हम पहचानेंगे कि किसी के द्वारा *गलत कान भरने से हमारा पूर्वाग्रह बन गया और जैसे ही मौका मिला* हम क्रोध से भड़क गये। किन्ही वस्तुओं के प्रति हम संस्कार या चिड़ बना लेते है और जैसे ही वह प्रसंग उपस्थित होता है चिड़ कर क्रोधित हो जाते हैं। बालक अपनी कुछ वस्तुओं के प्रति प्रेम और कुछ के प्रति चिड़ बना लेते हैं। वही बालकभाव या संस्कार जब युवावस्था या वयस्कावस्था तक चला आता है और उसी संस्कार से प्रेरित होते हैं तो बालक की तरह मचल उठते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति भी अपने जीवन के कुछ निश्चित सिद्धान्त बना लेते है जिनमें वे किसी के भी हस्तक्षेप को पसन्द नही करते उन बातों के प्रति यदि कोई प्रश्न उठाये तो उसका सही समीक्षण करने की बजाय क्रोधित होकर व्यवहार करते हैं। वयस्क मस्तिष्क से यदि वयस्क विश्लेषण करने को आदत डालें तो बालक या प्रौढ़ संस्कार से इस प्रकार विचारहीन होकर व्यवहार करने से हम रुकेंगे और क्रोध से बच सकेंगे।

कुछ लोगों की सलाह है कि जब कभी क्रोध का प्रसंग आवे तो मुँह से बोल निकालने से पहले एक से दस तक गिनती करलें। इस बीच ही शायद उनको ख्याल आ जावे कि क्रोध उस मौके का सही जबाव नहीं है। इसी प्रकार दूसरों की चुगली या गलतियों बारे में

अधिक दिलचस्पी न लेने से जो कान भरने वाली शिकायत रहती है, वह भी नहीं रहेगी। किसी भी व्यक्ति को आरोपित करने से पहले उसे बोलने का मौका दिया जावे तो जिस बात पर हम क्रोध करने वाले हैं उसका समाधान शायद उसमें मिल जावे।

क्रोध का शमन कैसे करें, इसके उपाय स्वयं हमें ही निकालने होंगे। परन्तु, इतना काफी है कि जिस समय भी क्रोध आवे, उसका हम पूरा विश्लेषण करें और उसके प्रति जागरूक हों, उसके कारणों की जांच करें। इनसे सही उपाय मिल सकेंगे और दोष बाहर डालने की बजाय हमारे आन्तरिक कारणों की जांच कर उनको मिटाने का उपाय कर सकें तो बाहरी प्रसंग व्यर्थ हो जावेंगे और हम अपने जीवन को समतामय एवं मधुर बना सकेंगे। हमारी समता दूसरों को भी समता एवं शान्ति प्रदान करेगी।

□

क्या आनन्द आ रहा था दूसरे को खिलाने में और कितना असंतोष था स्वयं को ही खिलाने की कोशिश में।

हमारे जीवन में क्या यही चरितार्थ नहीं हो रहा है? प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये ही जीने की कोशिश कर रहा है। सब कुछ अपने लिये ही संग्रह कर उसका उपभोग करना चाहता है। इसी होड़ में हिंसा, चोरी, झूठ, कपट, शोषण आदि बुराइयों की व्यापकता दिखाई देती है।

मनुष्य किन कारणों से हिंसा करता है और अन्य प्राणियों को कष्ट पहुंचाता है? भगवान महावीर कहते हैं—"प्रत्येक प्राणी अपने वर्तमान जीवन के लिये प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिये, जन्म, मरण और मोचन के लिये, दुःख के प्रतिकार के लिये जीवों की हिंसा करता है, करवाता है या अनुमोदन करता है।"

स्पष्ट है कि अपने लिये ही जब जीना है और संग्रह करना है तो हिंसा, चोरी व कपट करना ही होगा। सब ही स्वय के लिये संग्रह में लगेंगे तो कुछ सफल होंगे और अधिकांश असफल। इससे असंतोष, घृणा और युद्ध का वातावरण बना रहेगा।

हम जीवन को कुशलता व शांति से, संतोष व सुख से कैसे बितायें इस हेतु नैतिक नियमों का निर्माण हुआ, धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और समाज का गठन हुआ। सामाजिक जीवन का प्रारम्भ ही तब से होता है जब हम अपनी बजाय दूसरे की चिन्ता करने लगते हैं, एक दूसरे को सहारा देने लगते है। पत्नी पति के लिये त्याग करती है, पति पत्नी को सहारा देता है। माँ बच्चों के लिये त्याग करती है और बच्चे बड़े होकर माँ को सहारा देते हैं। यह करुणा, प्रेम, सहानुभूति ही समाज के आधार है।

परन्तु, ये गुण जब परिवार और परिजनों के लिये सीमित हो जाते हैं तो फिर कलह प्रारम्भ हो जाता है। तब इकाई व्यक्ति न होकर परिवार बन जाता है और परिवारों के बीच या वर्गों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

जीवन का अवलोकन करें। हम किसके लिये जी रहे हैं? पढ़-लिखकर शादी की, परिवार बढ़ाया, पालन-पोषण किया, धन-संग्रह

किया और मर गये। क्या यही जीवन का स्तर है ? यदि नही तो जीवन स्वयं या स्वयं के परिवार के लिए नही बल्कि कुछ उच्च आदर्शों के लिये है।

भगवान महावीर ने 'संविभाग' व 'अपरिग्रह'[1] के सिद्धान्त दिये। स्वयं के लिये संग्रह मत करो, सब में बांटो और सीमा से अधिक संग्रह मत करो। जो भी संग्रह करो उसमें स्वयं का ममता भाव न रहे बल्कि ट्रस्टीशिप का भाव रहे, जैसा गांधीजी ने भी कहा था। यह धन स्वयं की मांग के लिये नहीं बल्कि सब जन-हिताय व सब जन-सुखाय है। जब संग्रहित धन पर मूर्च्छा नही रहती है तो अपरिग्रह कहलाता है और तब धन का उपयोग सबके कल्याण के लिये होता है। किन्तु, जब धन पर स्वयं की मूर्च्छा व अधिकार-भाव रहता है तो वही धन पाप का मूल बनता है।

कोयला और हीरा :

"देने वाला चमकता है और लेने वाला काला पड़ता है।" इसे हीरे और कोयले के दृष्टांत से समझें। हीरा और कोयला दोनों कार्बन परमाणु से बने हैं। दोनों का एक ही तत्त्व है, परन्तु एक काला है और एक चमकीला। कारण यह है कि कोयला जितनी भी रोशनी आती है, उसे अपने आप में समावेशित कर लेता है, जबकि हीरा समस्त रोशनी को वापस फेंकता है या प्रतिलक्षित करता है। चूंकि हीरा रोशनी वापस देता है अतः वह चमकता है और कोयला रोशनी स्वयं के लिए रख लेता है, अतः काला दिखाई देता है।

यही बात संसार पर लागू होती है। जो धन प्राप्त कर वापस दे देते हैं, वे चमकते हैं। खुद भी सुखी होते है और अन्य को भी सुखी करते हैं। लेने वाला भी उपकृत महसूस करता है और देने वाला भी।

---

1. संविभाग का अर्थ है विभाजन करके या बांटकर किसी भी वस्तु को काम मे लेना। जब साधु कोई वस्तु लाता है तो वह सबके बीच बांटकर काम मे ली जाती है। उसी को संविभाग कहते हैं। गृहस्थ के संदर्भ मे अपरिग्रह का अर्थ है—धन व अन्य वस्तुओ के संग्रह पर सीमा लगावे, और संग्रहित वस्तुओं मे मोह या मूर्च्छा न रखे।

परन्तु जो केवल संग्रह करता है और देता नहीं, वह उसी भार से डूबता जाता है। वह मन से भी और तन से भी काला पड़ता जाता है।

ईसा मसीह ने जब कहा कि सूई की नोक से ऊंट का निकलना संभव है परन्तु स्वर्ग के द्वार से धनी व्यक्ति का निकलना संभव नहीं है तो उसका तात्पर्य उन धनी लोगों से था जो धन का सग्रह अपने लिये ही कर रहे थे और मूर्च्छा में डूब रहे थे।

सुख देने में है, लेने में नहीं। जो तन की सेवा दे सकता है उसकी निःस्वार्थ सेवा का मूल्य धनी के दान से भी बढ़कर है। सेवा हमारे अहं को गलाती है और शरीर के राग को नष्ट करती है। निःस्वार्थ सेवा मानवीय गुणों का विकास कर उसे ऊंचा उठाती है। मनुष्य का सच्चा विकास इसी में निहित है।

जीना है तो स्वयं के लिये न जीयें, अन्य के लिये जीयें। यदि सब इसी आदर्श का पालन करेंगे तो यह संसार देवताओं की पंगत बनेगी सब एक दूसरे का भला कर सुखी बनेंगे। परन्तु, यदि सब अपने ही लिये जीने की कोशिश करेंगे तो आपा-धापी में राक्षसों की पंगत बन जावेगी और नारकीय वातावरण बन जावेगा। शायद, भगवान महावीर ने इसीलिए कहा है कि जो संविभाग करके नहीं खाता वह मोक्ष नहीं पा सकता।

मानव जीवन में करुणा एवं दया का भी महत्त्व कम नहीं है। करुणा एवं दया के अभाव में मानव जीवन सूखे पेड़ की तरह है, जिससे किसी को राहत नहीं मिलती। वह जीवन किसी के हित के लिए नहीं होता है। करुणा एवं दया से व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। करुणा के दर्शन मानव जातियों में ही नहीं जानवरों में भी किये जाते है जो निम्न कथानक से स्पष्ट है :

हाथी की करुणा :

एक बार की बात है, घने जंगल में भयानक दावानल भड़क उठा। जंगल के प्राणी शरण के लिए इधर-उधर भागने लगे। मरना कोई नही चाहता था, परन्तु जंगल में शरण के लिये उन्हें कोई स्थान नहीं मिल रहा था। बड़ी मुश्किल से जानवरों को एक बाड़ा मिला, जहाँ

आग न थी। वन्य प्राणी वहीं एकत्र होने लगे। एक अजीव दृश्य था। वहां सब तरह के प्राणी थे। ऐसा लगता था कि सब ने जन्मजात वैमनस्य छोड़ दिया है तथा सब अपनी जान बचाने में लगे हैं।

जानवर आ रहे थे, भीड़ बढ़ती जा रही थी और क्रमशः ऐसी स्थिति आई कि तिल रखने को भी जगह न बची। एक निरीह खरगोश भी जगह ढूंढ रहा था। कभी किसी जानवर पर चढ़ जाता तो कभी दूसरे को पार करके आगे बढ़ जाता, परन्तु उसे बैठने को कहीं जगह नहीं मिल रही थी। ऐसा करते-करते वह एक हाथी के पास पहुंचा। संयोग था कि हाथी ने खुजली के लिए पांव उठाया। खरगोश ने सोचा कि उसे बैठने को जगह मिल गई। वह तो निश्चित हो वहीं बैठ गया। उसे क्या खबर थी कि वह हाथी के पांव के नीचे बैठा है और हाथी ने पांव नीचे रखा कि उसकी प्राण लीला समाप्त हो जावेगी। किन्तु वह प्राण बचाने की आशा में आया था, अतः निर्भीक हो बैठ गया।

हाथी ने पांव उठा तो लिया, पर ज्योंही वह उसे रखने लगा कि उसे लगा, उस स्थान पर तो खरगोश आकर बैठ गया है। यदि वह पांव रखता तो खरगोश समाप्त हो जाता और अन्य कोई ऐसा स्थान था नहीं जहां वह चला जाय। भीड़ इतनी थी कि खरगोश का वहां से हटना सभव नहीं था। हाथी के सामने बड़ी समस्या थी। पांव नीचा रखे या ऊंचा ही रखे। यदि पांव नीचे रखे तो खरगोश की मौत और न रखे तो उसे काफी पीड़ा। एक ओर खरगोश के प्राण थे तो दूसरी ओर पांव ऊंचा रखने की असह्य पीड़ा थी, पर सहज करुणा ने उसे प्रेरित किया कि वह जमीन पर पांव न रखे और खरगोश को वहीं बैठा रहने दे।

दावानल तीन दिन तक लगातार चलता रहा और सब प्राणी भूखे-प्यासे वहीं बैठे रहे। तीन दिन बाद जब दावानल समाप्त हुआ तो जानवर अन्न-पानी की तलाश मे निकलने लगे। खरगोश भी उस स्थान से चला गया। अब हाथी ने पांव सीधा किया; परन्तु यह क्या? पांव तो ऐंठ गया था। सीधा नहीं हो रहा था। तत्काल हाथी वहीं चक्कर खाकर गिर पड़ा और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। कहते हैं, हाथी मर-

कर स्वर्ग गया और अगले जन्म में राजकुमार बना। हाथी ने अपनी सहज करुणा से निरीह प्राणी की रक्षा की, यद्यपि इससे स्वयं उसको अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।

सुख की खोज :

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। दुःखों में कोई नही जीना चाहता। परन्तु, मनुष्य सुख की खोज के लिए बाहर ही भटकता है। भौतिक साधनों में सुख ढूंढता है। यह मानव प्रकृति है। परन्तु, क्या बाहर भटकने में सुख है, यह विचारणीय बात है। वस्तुतः सुख अपने भीतर ही होता है।

सुख केवल स्वयं के सुख से भी नहीं मिलता। कई बार हम इस मिथ्या धारणा के शिकार हो जाते हैं कि स्वयं की खुशी में ही सब सुख हैं। वस्तुतः दूसरों के दुःख के निवारण या परमार्थ में ही सर्वाधिक सुख मिलता है। यहाँ एक दृष्टांत स्मरण आता है :

एक बार की बात है, एक राजा बीमार पड़ गया। देश-देशान्तर से वैद्य, हकीम, डॉक्टर व अन्य जानकार बुलाये गये। राजा की बीमारी पर चाहे जितना धन खर्च हो, इसकी क्या परवाह? कितनी ही लागत लगे, राजा को स्वस्थ करना अत्यावश्यक था।

परन्तु, राजा की बीमारी कुछ ऐसी थी कि वह ठीक नही होती थी। अत्यन्त कीमती दवाएँ भी कारगर न हुई। तावीज, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र सब बेकार सिद्ध हुए। कुछ देर राजा की तबियत ठीक होती, फिर खराब हो जाती। उसके हृदय में चैन न था। अतः ऊपर की दवाओं से फर्क कैसे पड़ता?

अधिकांश डॉक्टरों व वैद्यों ने राजा की बीमारी को शरीर की बीमारी समझ कर दवा दी। एक दिन एक सयाना वैद्य आया। वह समझ गया कि राजा की बीमारी शारीरिक नही है। राजा तो मन की बीमारी से पीड़ित है। अतः उसने बहुत आसान दवा बताई। उसने कहा यदि किसी सुखी व प्रसन्न व्यक्ति की कमीज राजा को पहना दी जावे तो राजा स्वस्थ हो जावेगा।

हुक्म देने की देर थी। सैंकड़ों दूत विभिन्न दिशाओं में सुखी व्यक्ति की कमीज ढूँढने निकल पड़े। कोसों दूर चलते जाने पर भी दूतों को कोई सुखी व्यक्ति नहीं मिला। कोई अपनी पत्नी के मरने पर दुःखी था तो कोई पत्नी के कलहकारी स्वभाव से। कोई सन्तान न होने से दुःखी था तो कोई सन्तान को बुरी हरकतों से। कोई पैसा न होने से दुःखी था तो कोई धन को सुरक्षित रखने की चिन्ता से। गरज यह कि दूतों को कहीं भी कोई सुखी व्यक्ति नहीं मिला। सबने अपनी-अपनी दुःख-भरी गाथा सुनाई। यह सब सुनकर राजा और भी दुःखी हुआ। उसे पहली बार ऐसा अहसास हुआ कि उसके राज्य में एक भी व्यक्ति सुखी नही है।

एक दिन राजा खिड़की में खड़ा-खड़ा बाहर का दृश्य देख रहा था। उसने नीचे बाग में एक व्यक्ति को मस्ती से लोट-पोट होते व नाचते देखा। राजा ने सोचा, यह अवश्य ही सुखी व्यक्ति है, क्योंकि उसके मुंह पर कोई चिन्ता की रेखा नहीं दिखाई दे रही थी। राजा ने दूत भेजकर उस व्यक्ति की कमीज मंगवानी चाही। दूत ने जाकर उस व्यक्ति से पूछा, भाई तुम सुखी हो? उसने कहा—"अवश्य।" इस पर दूत ने उससे उसकी कमीज मांगी और कहा—"कमीज राजा के लिए चाहिये। इस कमीज के पहनने से राजा की बीमारी दूर हो जायेगी।"

यह सुनकर वह व्यक्ति जोर से हँसा और बोला—"कमीज मेरे पास होती तो क्या मैं सुखी होता? कमीज और ऐसी कोई भी वस्तु न होने से ही तो मैं फक्कड़ होकर घूमता हूँ और अपने को सुखी अनुभव करता हूँ।"

दूत ने आकर राजा को जब यह जवाब दिया तो राजा ने उस व्यक्ति को बुलवाया। उसकी बातों से राजा को अहसास हुआ कि सुख, धन और ऐश्वर्य में नहीं है। बीमारी का इलाज दवा नहीं है। उसे जगह-जगह से दूतों ने आकर यह समाचार दिये कि उसके राज्य में कोई सुखी नहीं है। अतः राजा ने निश्चय किया कि उसे जनता के दुःख निवारण में लग जाना चाहिए। वह राजमहल से बाहर निकला। उसने देखा कि कितने ही लोग दुःखी है। उसने जान लिया कि दुःख

निवारण में ही सुख है। दूसरों को सुखी करके ही व्यक्ति स्वयं सुखी हो सकता है।

राजा ने नयी राह खोज ली। उसने अपना नया कार्यक्रम बनाया, अब उसकी बीमारी मिट चुकी थी। सुखी व्यक्ति की कमीज तो उसे पहनने को नहीं मिली पर सुखी व्यक्ति की खोज से ही उसे अहसास हो गया कि सुख कहां है।

मानव मात्र सुखों की प्राप्ति एवं दुःखों के छुटकारे की अभिलाषा रखता है, किन्तु उसे सुख अपने भीतर खोजना होगा, अपने कार्यों एवं व्यवहार से सुख उत्पन्न करना होगा। वह स्वयं अनन्त सुखों एवं अपार शान्ति की खान है। वह जितनी चाहे सुख एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपने आपको पहचाने। वह स्वाध्याय करे, अपने कार्यों एवं व्यवहार का परीक्षण करे, अपने आत्म-विश्वास को जगाये। इस हेतु उसे महापुरुषों के जीवन से प्रकाश प्राप्त करना होगा। उसे हमारी परम्परागत आध्यात्मिक मान्यताओं—सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह में विशेष रूप से विश्वास करना होगा। समता योग व विपश्यना जैसी साधनाओं से मन की गहराई में छिपी सुख की खान को निकालना होगा। यही दर्शन जीवन को अखण्ड एवं अपरिमित सुख एवं शान्ति का सागर बना देगा।

'करना' व 'होना'

अन्त में, एक बात और। कथनी और करनी के भेद को सब जानते है, परन्तु 'करने' और 'होने' में जो गहन अन्तर है उसकी अनुभूति अपेक्षाकृत कम हो पाती है। 'करने' और 'होने' के भेद को ठीक से समझने पर हम धर्म के स्वरूप को भी सही रूप में समझ सकेंगे।

धर्म के नाम पर हम अनेक क्रियाएं करते हैं, जैसे—सामायिक करते है, माला फेरते है, मन्दिर जाते हैं आदि। परन्तु, ये सब चीजें करने की हैं। धर्म 'करने' में नही है, 'होने' में है। हम सामायिक 'करते' है, परन्तु क्या हमें कभी सामायिक 'होती' है? हम सच बोलते हैं, परन्तु क्या हमारे जीवन मे सच आ गया है? हिंसा नही करना एक बात है और जीवन मे अहिंसा 'होना' दूसरी बात है। क्रोध न करना एक बात

है और जीवन में क्रोध न होना दूसरी बात है। 'करना' धर्म का बाह्य रूप है और 'होना' आन्तरिक रूप। एक द्रव्य-प्रधान है और दूसरा भावना-प्रधान।

'करना' आसान है, 'होना' अपेक्षाकृत कठिन है। 'करना' शारीरिक क्रिया है, जब कि होना' मानसिक क्रिया है। एक में ऊपरी सतह पर ही क्रिया होती है, दूसरे मे गहन क्रिया-प्रक्रिया होती है।

मानसिक स्तर पर जो प्रक्रिया, चिन्तन, मनन और परिवर्तन होता है उससे बाहर में भी परिवर्तन आता है और वह स्थायी भी होता है। इसके विपरीत, मानसिक स्तर पर परिवर्तन किये बिना बाहरी क्रियाकलाप आडम्बर मात्र है। बाहरी क्रिया आन्तरिक परिवर्तन का साधन है, न कि साध्य। अतः 'करने' का सम्बन्ध मानसिक प्रक्रिया से जोड़ना आवश्यक है। जब तक बाह्य प्रक्रिया अन्तःकरण से नहीं जुड़ती है तब तक उसका प्रभाव क्षणिक और अस्थायी होगा। अतः क्रिया, विचार और भावना में तादात्म्य आवश्यक है।

□

क्या ईश्वर मर गया ?

जी हां, यह एक नया वाद चला है जिसके अनुसार ईश्वर की अब कोई आवश्यकता नहीं और न ही उसका कोई अस्तित्व रहना चाहिये। जब मानव अनभिज्ञ था, प्रारम्भिक अवस्था में था तब ईश्वर की आवश्यकता थी। मानव के भीरु मन ने ईश्वर की कल्पना की। विशाल सृष्टि और विचित्र घटनाओं के रचयिता की कल्पना के लिए ईश्वर के अस्तित्व का आविष्कार किया गया। परन्तु अब नया वाद यह कहता है कि विज्ञान ने यह सब खोज लिया कि सृष्टि कैसे बनी, विचित्र घटनाएं क्यों होती हैं और धीरे-धीरे इस बात की पुष्टि होती जा रही है कि सृष्टि का निर्माणकर्ता कोई नहीं था—यह सब लीला कुछ आधारभूत प्राकृतिक नियमों के अनुसार चल रही है। अतः, अब ईश्वर की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं। ईश्वर नाम की वस्तु यदि कोई है तो वह मर गई। समस्त धर्मों और पन्थों को अपने सिद्धान्त पलटने चाहियें।

इस वाद के सम्वन्ध में किसी ने अमेरिका के एक वयोवृद्ध पादरी डॉ० हेनरी एमर्सन से पूछा तो उनका उत्तर इस प्रकार था—

"मैं उस पन्थ से, जो कहता है—ईश्वर मर गया, बिल्कुल सहमत नहीं हूँ, परन्तु मेरे विचार से, ईश्वर के सम्बंध में कुछ धारणाएं हैं, वे अवश्य मर जानी चाहियें।"

ईश्वर के सम्बंध में कई प्रकार की धारणाएं है। कुछ धारणाए वास्तव में ऐसी है जिनकी वजह से साम्यवादी विचार के लोग धर्म को 'जनता की अफीम' कह कर पुकारते है। कुछ धारणाएं जो काफी प्रचलित हैं और जिन्हें बुद्धिवादी स्वीकार नहीं कर सकता, वे इस प्रकार है—"ईश्वर पर सब छोड़ दो, वह अपने आप करेगा। ईश्वर से डरो, नहीं तो वह सजा देगा", "ईश्वर एक ऐश्वर्यशाली सम्राट् है जो अपने स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान है और इस विश्व पर शासन कर रहे है" आदि। जो वस्तु समझ में नहीं आई या जिस पर नियन्त्रण न किया जा सका उसे भी ईश्वरीय देन मानना बुद्धिवादी को स्वीकार नहीं है।

जब मनुष्य अनभिज्ञ था, पिछड़ा हुआ हुआ था, तब इन धारणाओं की कल्पना या आविष्कार हुआ। इन धारणाओं की अब समाप्ति होना आवश्यक है। ईश्वर के बारे में यह समझना कि वह हमारे कर्मों का लेखा-जोखा रखता है, यह भी भूल है। ईश्वर हमेशा हमारी तरफ होता है तथा वह सब कार्य ठीक करेगा, यह भी भ्रमपूर्ण है। और यह धारणा कि ईश्वर की सेवा, ईश्वर के लिए लड़ने या मरने से ही हो सकती है अत्यन्त हानिपूर्ण है। ये धारणाएं कुछ ऐसी जम गई हैं कि इनको मारना कठिन है, परन्तु इनका मरना आवश्यक है। मनुष्य के विकास के साथ-साथ इन प्रारम्भिक धारणाओं को पीछे छोड़ना आवश्यक है।

ईश्वर की कौनसी धारणा सही है? ईश्वर यदि नहीं मरा तो ईश्वर क्या है? यह जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर आसान नहीं। ईश्वर को पूर्णरूपेण समझना कठिन है। हम अपने अनुभव या अनुभूति से परे नहीं जा सकते और केवल अनुभव या अनुभूति से ईश्वर को समझना उतना ही कठिन है जैसे समुद्र को प्याले में भरने का प्रयत्न।

ईश्वर की परिभाषा करना कठिन ही नहीं, व्यर्थ भी है। ईश्वर जैसी व्यापक वस्तु की परिभाषा करने का अर्थ है—उसको सीमित बनाना। व्यापक वस्तु की परिभाषा करने से वह एक छोटी चीज बन जायेगी। ईश्वर को समझने के लिए परिभाषा करने की बजाय उसकी अनुभूति प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिये। समुद्र की प्रकृति जानने के लिये समुद्र को पकड़ने का प्रयत्न नहीं किया जाता वरन् उसके किनारे-किनारे चलकर उसकी अनुभूति प्राप्त की जाती है। इसी प्रकार हमें ईश्वरत्व के नजदीक पहुंचने की कोशिश करनी चाहिये। हमें स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिये कि जीवन की किस क्रिया में हम अपने आपको ईश्वरत्व के नजदीक पाते हैं? जिन क्रियाओं में हम ईश्वरत्व की अनुभूति करते हैं वही सुख, आनन्द, असीम उल्लास की अनुभूति होती है। अनुभव से ज्ञात होगा कि सत्य, सुन्दर व प्रेम में ईश्वरत्व की अनुभूति होती है।

जो लोग कहते हैं कि ईश्वर नहीं है, उनका व्यवहार ठीक उस बालक के समान है जिसे विज्ञान के कुछ पाठ पढ़ने के बाद यह ज्ञात हुआ कि आकाश एक नीली चादर नहीं है, तो वह एकदम बोल उठा—"आकाश नहीं है।" उर्ध्व दिशा में आकाश एक नीली चादर तो नहीं है पर उसकी अभिव्यक्ति इस रूप में करना कि "आकाश ही नहीं है" कितनी गलत है! इसी प्रकार यह जानने पर कि सृष्टि का कार्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है, और प्रत्येक कार्य ईश्वर नहीं करता तो यह कह बैठना कि ईश्वर ही नहीं है, एकदम गलत होगा।

हां, ईश्वर नाम का कोई व्यक्ति नहीं है, परन्तु ईश्वरत्व तो है। यदि ईश्वरत्व नहीं है तो शेष क्या बचता है। क्या यह संसार केवल अणु-परमाणु की क्रिया-प्रतिक्रिया ही है और इसके पीछे कोई उद्देश्य नहीं है? क्या यह क्रिया सब उद्देश्यहीन, अर्थहीन एवं गन्तव्यहीन है? पर ऐसा नहीं है। इस संसार के अस्तित्व का उद्देश्य है, गंतव्य है और कोई अर्थ भी है, और वह है—ईश्वरत्व को प्राप्त करना। इस विश्व में नैतिक नियम हैं। यदि भौतिक फल प्राप्त करना है तो भौतिक नियमों

का पालन आवश्यक है। यदि शारीरिक स्वास्थ्य चाहिये तो शारीरिक नियमों का पालन आवश्यक है। इसी प्रकार मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए मानसिक एवं आध्यात्मिक नियमों का पालन आवश्यक है।

डॉ० हैरी फॉसडिक ने इस सम्बन्ध में जो अपने विचार कहे, उन्हीं से इस लेख की समाप्ति की जाती है :

"मनुष्य जो बोता है उसका फल उसे अवश्य मिलता है। मित्रता बोइये, मित्रता मिलेगी, निःस्वार्थता बोइये, विकसित जीवन मिलेगा, सद्‌भावना बोइये, भविष्य के लिये तथा आने वाली सन्तति के लिए उत्तम संसार का निर्माण होगा। पूजा करिये—अर्थात् आत्मा का उत्थान करिये—अनित्य से साक्षात्कार होगा।"[1]

□

1. "What man sows he indeed reaps. Sow friendliness and reap friendship. Sow unselfishness and reap an enlarged life. Sow goodwill and reap better world for our children. Sow worship-the uplift of the heart towards the highest—and reap open-hearted responsiveness to the things eternal.".

गरीबी :
आर्थिक, मानसिक, आध्यात्मिक

गरीबी चाहे किसी भी क्षेत्र में हो, एक अभिशाप है। जहां यह हिंसा, द्वेष एवं मालिन्य की जननी है वहां एक विस्फोटक तत्त्व भी है। इसमें सामान्यतः हेय और उपादेय, उचित और अनुचित की सीमा का भान नहीं रहता। इसको हटाना नितान्त आवश्यक है। इस दिशा में चिंतन का एक दृष्टिकोण प्रस्तुत है।

गरीबी तीन प्रकार की हो सकती है : आर्थिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक। आर्थिक गरीबी एक ऐसी वास्तविकता है जहां शरीर की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं होते। भूख और बीमारी से लड़ते-लड़ते ही जीवन समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत मानसिक गरीबी का तात्पर्य व्यक्ति की उस मनःस्थिति से है जहां पर्याप्त साधन होते हुए भी जीवन में सन्तोष नहीं। तृष्णा के माया-जाल में वह दिन रात फंसा हुआ अधिक से

अधिक धन एकत्र करने में लगा रहता है। वह अपनी तुलना उनसे करता है जिनके पास उससे भी अधिक धन है और वह उनके समकक्ष आने की योजना बनाता रहता है। आध्यात्मिक गरीबी का तात्पर्य उस खाई से है जो आदर्श और आचरण के बीच में पायी जाती है। इसका तात्पर्य उन परिपाटियों से भी है जिन्होंने धर्म और नैतिकता को घेर रखा है और सत्य को आवृत्त कर दिया है।

जब तक मानसिक गरीबी नहीं मिटती, आर्थिक और आध्यात्मिक गरीबी नहीं मिट सकती। धन-संग्रह ही समाज में फैली गरीबी का प्रमुख कारण है। शोषण, अनियमितता व राज्य-विरोधी कार्यों से धन संग्रह की गति बढ़ती है और इस क्रम में औचित्य का स्थान गौण हो जाता है। समाज व राष्ट्र को क्या हानि होगी, इसका कोई ख्याल नहीं रहता। तृष्णा के चक्कर में फंसे व्यक्ति में आध्यात्मिक विकास उसी प्रकार असम्भव है जैसे मगरमच्छ पर बैठे व्यक्ति का समुद्र पार करना। इसके विपरीत आर्थिक गरीबी से त्रस्त व्यक्तियों से अध्यात्म व नैतिकता के विकास की अपेक्षा करना अनुचित है। अर्थ की विपुलता व अभाव दोनों ही अध्यात्म-विकास में बाधक है।

रोग का सही निदान :

भगवान् महावीर ने रोग का सही निदान किया और अपरिग्रह के सिद्धांत पर उतना ही जोर दिया जितना अहिंसा पर। अहिंसा व अध्यात्म-विकास के लिए मन में आसक्ति एक बहुत बड़ी बाधा है। स्वेच्छा से धन संग्रह पर सीमा लगाने व इसका सदुपयोग जन-कल्याण में करने पर भगवान् महावीर ने अत्यधिक बल दिया। गांधी ने इसी को ट्रस्टीशिप के सिद्धांत में परिवर्तित किया। परन्तु समय के बहाव में अहिंसा पर बारीकी से अमल हुआ और अपरिग्रह पर जोर कम हो गया। अहिंसा की बारीकी चींटी, मच्छर व छोटे-छोटे कीटाणुओं की दया तक पहुँच गई परन्तु मोटाई में मनुष्य के प्रति दया भी सुप्तप्राय हो गई। यदि अपरिग्रह के सिद्धांत पर पूरा जोर दिया होता तो आज समाज में इतनी विषमता और वैमनस्य को स्थान नहीं मिलता।

आज आचरण में सिद्धांतों पर अमल बहुत कम दिखाई देता है। आर्थिक गरीबी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के दोषों का परिणाम है। इन दोषों को दूर करने के लिए ही सरकार ने सीलिंग कानून पास किए है। काले धन की धर पकड़ चल रही है और समाजवाद का नारा जोर पकड़ रहा है। इन कानूनों से सच्चा समाजवाद आ जायगा, अभी यह एक प्रश्न ही है और उत्तर समय के आंचल में निहित है।

समय की चेतावनी को पहचानें :

कानून से समाजवाद आये या न आये लेकिन अधिकाधिक धन संचय करने वालों के लिए कानून अवश्य अमल में आयेंगे। सीलिंग से अधिक सम्पत्ति राज्य सरकार के पास जायेगी और जहां काला धन पकड़ा जाएगा वहां सजा भी भुगतनी पड़ेगी। इस दृष्टिकोण से यह प्रश्न दिमाग में बार-बार आता है कि समय की इस चेतावनी से सचेत हो क्या धनी वर्ग समाजवाद के कानून के अमल में आने से पूर्व ही अपरिग्रह अथवा ट्रस्टीशिप के सिद्धांतों को स्वयं अमल में लायेंगे? अभी तक तो समाज में ऐसा कोई आन्दोलन नजर नहीं आता जिससे यह स्पष्ट हो कि इस वर्ग ने समय की चेतावनी को पहचान लिया है अथवा अपरिग्रह के सिद्धांत को अपनाकर भगवान् महावीर के सिद्धांतो पर चलने का नियम लिया है। यदि समता का दृष्टिकोण अपना लिया जाय और कानूनी सीमा के बजाय स्वेच्छा से धन-संग्रह पर सीमा लगायें तो अतिरिक्त धन स्वतः ही समाज के उन वर्गों के लिए काम में लिया जा सकता है जिनको अत्यधिक जरूरत है। इससे एक ओर आर्थिक गरीबी दूर होगी और दूसरी ओर आध्यात्मिक गरीबी भी।

भारत में अहिंसा की नीव बड़ी मजबूत बतायी जाती है। शायद यही कारण है कि यहां इतनी गरीबी होते हुए भी जनता में समाजवाद के लिए अभी कोई आन्दोलन प्रस्फुटित नहीं हुआ है। शायद यही कारण है कि जहां समाजवाद सबसे जरूरी है, वही पर समाजवाद की मांग सबसे कमजोर है। परन्तु मजबूत दीवारें भी गिरती देखी गई है, किस दिन यह गढ ढह जाय कोई नहीं कह सकता।

दान परिपाटी नहीं, दायित्व बोध :

समाज में धर्म व परोपकार के दृष्टिकोण से कुछ व्यक्ति दान आदि में पैसा लगाते हैं। परन्तु धर्म का इतना संकीर्ण दृष्टिकोण है कि दान का अधिकतर अंश मन्दिर और भवन-निर्माण में काम आता है। इसके बाद सामूहिक भोज एवं भोजन-व्यवस्था में समाज का पैसा काम आता है। परन्तु, सांस्कृतिक-शैक्षणिक प्रवृत्तियों अथवा समाज के जरूरतमन्द भाइयों के लिए सामाजिक व्यय का शतांश भी काम नहीं आता। यह गहन विचार का समय है कि क्या समाज अपने धन का व्यय इसी प्रकार करता रहेगा अथवा अपने जरूरतमन्द भाइयों को भी सम्भालेगा ? दान केवल धार्मिक परिपाटी ही रहेगी या यह एक सामाजिक उत्तरदायित्व भी है ? इन प्रश्नों के उत्तर पर ही समाज का भविष्य निर्भर करता है। यदि हमने परिपाटी नहीं बदली तो न समाज की आर्थिक गरीबी दूर होगी न आध्यात्मिक ही। इसके विपरीत विघटन एवं वैमनस्य की भावना फैलने की भी सम्भावना है।

सत्य कटु भी होता है और अजीब भी। सत्य को पहचानना ही सच्ची आध्यात्मिकता है और इसका अनुसरण ही आध्यात्मिक गरीबी हटाने का साधन है। आध्यात्मिक और मानसिक गरीबी हटने पर आर्थिक गरीबी भी हट जायेगी। भगवान् महावीर का परिग्रह-परिमाण व्रत इस सदर्भ में विशेष प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है। आवश्यकता है, उसे सम्पूर्ण सामाजिक चेतना के साथ अपनाने की। □

कर्म सिद्धांत और समाज संरचना

वर्तमान समाज संरचना के लिये जिम्मेदार कौन ? किसने यह व्यवस्था की ? परिवर्तन कैसे आता है व कौन लाता है ?

इस प्रश्नावली का उत्तर देने का प्रयत्न दार्शनिक, समाजशास्त्री, इतिहासज्ञ और धार्मिकों ने किया; परन्तु जितना अध्ययन करते हैं, उलझते जाते हैं। उत्तर आसान नहीं है। प्रत्येक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से तो देखा ही परन्तु कई स्थानों पर ऐसा आभास भी होता है कि इन दार्शनिक सिद्धान्तों और वादों के पीछे निहित स्वार्थ भी कार्य करते रहे हैं। ऐसे सिद्धांत भी प्रतिपादित होते रहे है जिनसे व्यवस्था स्थायी बनी रहे और उसमें उथल-पुथल कम-से-कम हो। कभी यह भी हुआ कि पूर्णत: वैज्ञानिक सिद्धान्त को कालान्तर में ऐसा मोड़ दे दिया कि उसका अर्थ उल्टा हो गया और वह निहित हितों को रक्षा में ही काम आया।

अब इसी प्रश्न को ले लें—व्यक्ति गरीब क्यों है ? गरीब घर में जन्म क्यों लिया ? कोई उच्च कुल कहलाया, कोई अछूत या नीच कुल। किसी को खाने से अजीर्ण हो रहा है तो किसी को दो वक्त का भोजन भी नसीब नहीं।

भारत में प्रचलित कर्म सिद्धांत कहता है, कि व्यक्ति गरीब है क्योंकि यह उसके पूर्व जन्म के कर्मो का फल है। उसके कर्मो की वजह से ही वह नीच कुल में पैदा होता है और दुःख पाता है। इन्हीं कर्मो से समाज में वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा, गरीबी-अमीरी, छुआछूत आदि की व्यवस्था निर्धारित है।

व्यक्ति के जीवन में सुख-दुःख, यश-अपयश, धन-प्रतिष्ठा, पांडित्य-मूर्खता, जन्म-मरण आदि कर्म-आधारित है। व्यक्ति पर लागू होने वाले इस सिद्धान्त को पूरे समाज पर लागू कर समाज की पूरी संरचना व व्यवस्था की भी व्याख्या की जाती है और इसको वैज्ञानिक भी बताया जाता है। इसके विपरीत पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक मार्क्स का कहना है कि यह गरीबी, अमीरी समाज की संरचना का फल है। यदि समाज में व्यक्तिगत पूँजी को एकत्र करने की छूट है तो अधिक चालाक व्यक्ति उपलब्ध जमीन, धन व उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य कर लेंगे और फिर अन्य निर्धन व्यक्तियों का शोषण कर अपनी सत्ता व साधनों का पोषण करेंगे। वे ऐसी व्यवस्था करेंगे कि उनका धन-साधन सुरक्षित रहे और उनकी सत्ता को उखाड़ने की जो कोशिश करें, वे दण्ड के भागी बनें। न केवल राजदण्ड बल्कि धार्मिक व्यवस्था भी ऐसी करावेंगे कि उनको कोई छेड़े नही। ऐसे नियम व उपदेश का प्रचार होगा कि पराया धन नरक में ले जाने वाला है. अतः उस ओर नजर भी न डालें। इससे व्यवस्था सुन्दर बनी रहे और जो जैसा जीवन जी रहे है, उसी में सुख महसूस करें। जो वर्तमान स्थिति है उसे पूर्व कर्मो का फल मानकर इस जीवन में पश्चाताप करें और आगे का जीवन सुधारने का प्रयत्न करें। इसीलिये मार्क्स ने धर्म को जनता के लिये अफीम की संज्ञा दी है।

व्यक्ति को फल अपने कर्म के अनुसार मिलता है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को कौन नकार सकता है ? जैसा बीज वैसा फल। जैसा कर्म वैसा जीवन।

परन्तु व्यक्ति पर लागू होने वाले सिद्धान्त को बिना अपवाद के पूरे समाज पर लागू करके समाज की व्यवस्था बनाना और उसकी अच्छाइयों या बुराइयों को तर्कसंगत बताना उतना वैज्ञानिक नहीं है। बल्कि यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस कर्म सिद्धान्त को समाज-व्यवस्था का आधार बनाने में निहित स्वार्थों ने कार्य किया है और धर्म व कर्म के वैज्ञानिक और शुद्ध स्वरूप को विकृत कर व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने का प्रयास किया है।

यदि धार्मिक और दार्शनिक बार-बार यह कहें कि जो कुछ तुम्हें मिला या मिलेगा वह कर्म आधारित है और पूर्व जन्म के कर्मों का फल है तो अपनी वर्तमान स्थिति के बारे में यही समझ कर संतोष करेगा कि उसके पूर्व जन्म के कर्म खराब हैं, अतः उसे ऐसा दुःखी जीवन मिला है और वर्तमान को किसी तरह भोगते हुए अगले जीवन को सुधारने का प्रयत्न करना है। वर्तमान को कैसे सुधारें, यह कौन बताये ? जब अमीर आदमी के पास धन-दौलत है तो वह उसको अपने पूर्व जन्म के कर्म का फल मानकर गर्व करता है कि यह उसका पुराना गौरव है और उसको भोगना उसका हक है। यदि कोई उसे छीनने का प्रयत्न करे तो धार्मिक कहते है यह पाप है; क्योंकि सम्पत्ति पर उसका हक पूर्व जन्म के कर्मों के फ़ल से है।

व्यक्ति का वर्तमान के कर्मों के फल प्राप्त कर उसका भोग करना एक बात है और भूत के कर्मों के फल पर बिना प्रयत्न के भी वर्तमान अमीरी में रहना दूसरी बात है। यह अमीरी और गरीबी कर्म आधारित नहीं वरन् समाज व्यवस्था पर आधारित हैं। जैसी व्यवस्था होगी उसी आधार पर गरीबी या अमीरी होगी।

व्यक्ति धन कमाकर रोटी खावे यह वर्तमान कर्म का फल है; परन्तु पिता कमाकर पुत्र के लिये छोड़ जावे और पुत्र उसका भोग करे,

यह पूर्व जन्म के कर्म का फल नहीं वरन् समाज-व्यवस्था का फल है। यदि समाज को व्यवस्था में यह नियम हो कि पिता की सम्पत्ति पुत्र को नही मिलेगी या कोई व्यक्ति निजी सम्पत्ति नहीं रख सकेगा तो क्या कोई गरीब घर और अमीर घर हो सकता है ? पिता का हक यदि पुत्र को मिलेगा ही नही तो पुत्र को नया प्रयत्न करना होगा और वह है उसके कर्म का फल।

परन्तु जब हम कर्म-सिद्धान्त की आड़ लेते हैं तो व्यवस्था का पोषण करते हैं। पिता की सम्पत्ति पुत्र को मिले और वह उसका भोग करे, यह समाज-व्यवस्था है न कि कर्म-व्यवस्था।

पूँजीवादी व्यवस्था में जिसके पास उत्पादन का साधन अर्थात् जमीन, सोना, पशु आदि कुछ हैं, वह आगे संवर्द्धन कर सकता है, बशर्ते अपनी सम्पत्ति को सम्हाल कर रखे। परन्तु जिसके पास कोई सम्पत्ति नहीं है उसे जन्म भर मजदूरी करने के अलावा कोई राह नहीं है।

अक्सर कहा जाता है कि जो गरीब हैं वे वास्तव में मेहनत नहीं करते और गरीबी में ही मस्त रहना चाहते हैं। लेकिन अध्ययन बताता है कि जो जितने गरीब हैं उतनी ही कड़ी मेहनत व लम्बे समय तक कार्य करते हैं। अच्छे पद या सम्पत्ति वाला व्यक्ति मेहनत का कार्य या लम्बे घंटों तक कार्य नहीं करता, जबकि भूमिहीन मजदूर दिन भर कार्य करके भी रोटी खाने जितना नहीं कमा पाता। धन जोड़ने की बात तो बहुत दूर है।

धनवान के पुत्र को धनहीन कर गरीब के बराबर की स्थिति में लाकर बराबर का मौका दिया जाय और फिर जो अच्छी स्थिति या कमजोर स्थिति में आवे तो वे उनके कर्म के फल हैं। परन्तु धनवान और गरीब की दौड़ तो बराबरी की दौड़ नहीं है। हम कई बार कहते हैं कि सबके लिये बराबर के अवसर हैं, परन्तु यह भ्रम मात्र है। जो धन-वान का पुत्र है उसे पढ़ने का, पूँजी का, बचपन में अच्छे लालन-पालन आदि सबका लाभ मिला है जबकि गरीब को बचपन में पूरा खाना व पहनने को भी नहीं मिलता। अतः यह कहना कि गरीबी या अमीरी पूर्व

कर्म का फल है, यह भ्रम है। यह वर्तमान व्यवस्था का ही फल है, इसे समझना चाहिये।

बार-बार जब उपदेश देते हैं कि तुम गरीब हो, अछूत हो या नीच कुल के हो, क्योंकि तुमने पूर्व जन्म में कर्म खराब किये हैं तो यह उनको गुमराह करना है। कर्म जीवन को सुधारने के लिये हैं। कर्म भुलावा देने के लिये नहीं हैं। यदि पूर्व कर्म से ही सब कुछ होता है और इस जीवन के कर्म का फल अभी नहीं मिलना है तो निष्कर्मण्यता को बढ़ावा मिलता है। फिर तो शांत होकर भोगना ही जीवन का उद्देश्य बनता है। यही कारण है कि भारत में इतनी गरीबी है, परन्तु कहीं विद्रोह का नाम नहीं। गरीबों को धार्मिकों ने काफी गहरी नींद सुला दिया है। यदि सिर कभी उठाया भी तो राजदण्ड और उच्च वर्ग के अत्याचारों ने दृढ़तापूर्वक दबा दिया है। सदियों के अत्याचार से वे मूक बन गये है। चुपचाप सहना सीख गये है। कर्मों के सुफल का इन्तजार है, इस जीवन में नही तो अगले जीवन में सही।

कर्म सिद्धान्त मानव को सबल बनाने, अपने प्रति जागरूक और सक्रिय बनाने के लिये था। कर्म का फल उसे ही मिलेगा जिसने कर्म किया है, परन्तु व्यवस्था ऐसी बना दी कि कर्म का फल बिचौलिये—श्रेष्ठ वर्ग—छीन ले गये। हल चलाया किसान ने और फल खाया जमींदार ने। यदि किसान ने आवाज उठाई तो पिटाई हो गई। तब कोई धार्मिक नहीं बोला। धार्मिकों का लालन-पालन तो राजा ही करते थे। उनको भिक्षा तो श्रेष्ठ घरों से ही मिलती थी। उन्होंने उस पिटे किसान को पुचकारा और मरहम-पट्टी की और सलाह दी—"अगले जीवन को सुधार"।

कर्म सिद्धांत का सम्बंध व्यक्तिगत जीवन से है, समाज की संरचना से इसका सीधा सम्बध नहीं है। समाज में भाईचारे, सहानुभूति और सहृदयता के नये संस्कार डालने होंगे। आज समाज में हृदयहीनता जगह-जगह देखी जाती है। यह सब मानव मूल्यों के खिलाफ है। लेकिन धन के नशे में जो चूर हैं उनको यह गर्व है कि यह धन उनके कर्मों का फल है और जो गरीब हैं वे गरीबी भोगने के लिये हैं। ये संस्कार हृदयहीनता

को जन्म देते हैं। कर्म-सिद्धांत की ग्राड़ लेकर धनी वर्ग बहुत दिन सुखी नहीं रह सकता। समाज-संरचना की वजह से धन का योग है; यदि उन्होंने सहृदयता और सहानुभूति नहीं दर्शाई और गरीबी-ग्रमीरी में काफी ग्रन्तर रहा तो वह दिन दूर नहीं जब विद्रोह की ग्राग भड़केगी।

विद्रोह का ग्राधार हिंसा है। ग्रतः उसका सुफल ही मिले, ग्रावश्यक नहीं। परिवर्तन में ग्रहिंसा का ग्राधार हो तो समाज में सरसता व सहृदयता बनी रह सकती है। विद्रोह के ग्रनन्तर एक सबल वर्ग दूसरे वर्ग पर सत्तारूढ़ हो सकता है; परन्तु ग्रहिंसात्मक परिवर्तन निर्देशित ढंग से हो सकता है और उसमें शोषक और शोषित दोनों मुक्त होते हैं। ग्रतः समय रहते समाज की व्यवस्था में निर्देशित परिवर्तन, शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से हों तो न्यायवादी और समतावादी समाज का ग्राधार बनाया जा सकता है। गुमराह कर विषमताओं का पोषण ग्रन्ततोगत्वा खतरनाक साबित हो सकता है।

□

मानव धर्म

भगवान महावीर ने चार तीर्थ, अर्थात्–चतुर्विध संघ की स्थापना की। चतुर्विध संघ में साधु धर्म और श्रावक धर्म, दो मूल धर्म है। साधु धर्म से साधु और साध्वियाँ चलती है तथा श्रावक धर्म से श्रावक और श्राविकाएँ चलती हैं। धर्म ही संघ का आधार है, आचरण की कसौटी है तथा संघ की मार्ग निर्देशिका है।

व्यक्ति का बाह्य व्यवहार व आचरण उतना ही महत्त्व रखता है जितना उसका आन्तरिक व आध्यात्मिक जीवन। वैसे तो जो अध्यात्म जीवन में ऊँचा उठता है, उसका बाह्य जीवन व आचरण भी स्वतः ही ऊँचा होगा, लेकिन सब अध्यात्म की उतनी ऊँचाइयों पर नहीं पहुँच पाते, अतः एक न्यूनतम सामाजिक आचरण व शिष्टाचार निर्धारित किया जाता है जो सामाजिक सम्बन्ध व व्यवहार का आधार है। यदि इस धर्म का ह्रास होता है तो समाज का विघटन होता है और उसके साथ

ही व्यक्ति की आध्यात्मिक शांति का भी ह्रास होता है। यदि कोई मानकर चले कि समाज में जो हो रहा है, मुझे इससे मतलब नहीं है, मैं तो अपनी आत्मा का उद्धार करूं, तो वह अहम् गलती कर रहा है। समाज का साथ और उसका उत्थान उतना ही जरूरी है जितना व्यक्तिगत आचरण व आध्यात्मिक उत्थान का। समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व मूल्यहीन है और व्यक्ति के बिना समाज ही अस्तित्वहीन है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

वही समाज प्रगतिशील होगा जिसमें व्यक्ति और समाज के उत्थान एक दूसरे के पोषक हैं। जहां एक का उत्थान दूसरे के लिए घातक है वह समाज कभी आगे नहीं बढ़ सकता और निश्चय ही शीघ्र समाप्त हो जायेगा।

हमें अपने श्रावक धर्म को इसी दृष्टिकोण से देखना है कि जो धर्म निर्धारित है क्या वह समाज और व्यक्ति दोनों का पोषक है? क्या इस धर्म में परिवर्तन की आवश्यकता है? क्या वर्तमान व्यवहार व आचार निर्धारित श्रावक धर्म के अनुसार हैं? यदि फर्क है तो क्यों है?

जैन धर्म में श्रावक धर्म का मूल आधार हैं—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत। इसके अतिरिक्त सप्त कुव्यसन त्याग, अठारह पाप का त्याग, दान, शील, तप, भावना, दस लक्षण धर्म आदि विभिन्न तरीकों से श्रावकों को नियम-व्रत दिलाकर सुव्रती एवं सुयोग्य बनाने का और आध्यात्मिक विकास करने का मार्ग बताया गया है।

पांच अणुव्रतों को गहराई से देखें तो पता चलेगा कि वे व्यक्ति और समाज के पारस्परिक उत्थान व सामंजस्य के साधन हैं। इनमें व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्तित्व के विकास के सिद्धान्त को कबूल किया गया है।

यह सर्वमान्य है कि जहां दो या दो से अधिक व्यक्ति होंगे वहां एक दूसरे से लड़ाई व संघर्ष का मौका किसी न किसी बात को लेकर आ ही सकता है। अधिकांश संघर्ष तो संसार की भौतिक वस्तुओं—जर, जमीन-मकान को लेकर ही होता है। इस संघर्ष को टालने या मिटाने

के लिए ही समाज की व्यवस्था होती है, सरकार, पुलिस, दण्ड व न्याय की व्यवस्था होती है। परन्तु हर व्यक्ति के पीछे पुलिस या खुफिया लगाना सम्भव नहीं। समाज की व्यवस्था स्व-शील व आचार से ही चलती है। और जो आचार या नियम को भंग करता है उसके लिए दण्ड की व्यवस्था होती है। अतः दण्ड अपवादस्वरूप है और नियम-पालन साधारण व्यवहार है।

समाज की व्यवस्था किसने की या कैसे हुई, यह एक लम्बी कहानी है। परन्तु समाज के संघर्ष को सीमित रखने के लिए इतिहास मे तीन मूल विचार-धाराएँ हैं। प्रथम विचारधारा है कि समाज की व्यवस्था ईश्वरीय देन है। राजा भी ईश्वर द्वारा निर्धारित है और जो इस कार्य के लिए जन्म लेता है वह कानून व्यवस्था कायम करेगा और वह सबको मान्य होनी चाहिये। दूसरी विचारधारा है समाज में वर्ग-संघर्ष की। समाज में व्यवस्था वर्गों के आधार पर होती है। जो वर्ग सम्पत्ति या उत्पादन के साधनों का मालिक होता है वह अपने हितों की रक्षा के लिए समाज और कानून की व्यवस्था करवाता है। जब व्यवस्था कृषि प्रधान थी तब जमीन के मालिक, जिन्हें सामन्त भी कहते थे, उनके अनुसार व्यवस्था चलती थी। जब उद्योग प्रधान व्यवस्था आई तो पूंजीपतियों के हितो के अनुरूप व्यवस्था आई और श्रमिक का शोषण हुआ। अब इस संघर्ष को समाप्त करने के लिये श्रमिकों को संगठित हो समाज के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण करना चाहिये। और तब व्यापक हितों में समाज व्यवस्था होगी। तीसरी और मूलतः भारतीय विचारधारा रही है--सह अस्तित्व और समन्वय की। जिसका अभिप्राय है कि समाज का सुधार संघर्ष से नहीं हो सकता।

सच्चा विकास मानवीय गुणों के विकास से ही हो सकता है। मानव को अधिक शक्तिवान, संवेदनशील और सहिष्णु बनाया जाय जिससे न केवल भौतिक विकास होगा वरन् आध्यात्मिक विकास भी होगा। नैतिक आचरण व शील पर जोर देने से संघर्ष स्वतः ही समाप्त होगा। श्रावक धर्म या अणुव्रत इसी नैतिक आचरण को आधार शिला है जो समाज से संघर्ष हटा कर समन्वय व सहिष्णुता लाती है। अहिंसा,

सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह मूल आधार हैं। यदि धन के संग्रह पर स्वतः सीमा लगाएँ व दूसरे के धन व वनिता को हड़पने की भावना न रहे तो स्वतः ही संघर्ष की जड़ समाप्त होगी और सीमा से उपरान्त प्राप्त धन को समाज-हित में लगाने की प्रेरणा मिलेगी। ये नियम महावीर की विशेष देन है जो सुदृढ एव शान्तिप्रिय समाज की आधार-शिला है। समाज में संघर्ष नहीं होगा तो व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास भी कर सकेगा और जब व्यक्ति शक्तिवान और नैतिक होंगे तो समाज भी उन्नत होगा। समाज संघर्ष को बल या हिंसा से न हटाकर अहिंसा, सहिष्णुता व समन्वय के उच्च आदर्शों से हटायेगा। समाज में प्रेम व्याप्त हो, इन आदर्शों को लेकर ही अणुव्रतों की स्थापना की गई है।

आज अणुव्रतों का पालन नहीं हो रहा है और अपरिग्रह जैसे मूल्यवान सिद्धान्त को ताक पर रख दिया गया है, इससे समाज में सहिष्णुता और सरसता की भावना समाप्त होकर संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। अहिंसा को छोटे-मोटे जीवों की हिंसा न करने तक सीमित मानकर भाव व व्यवहार से जो हिंसा कर रहे है, उस ओर किसी का ध्यान नही जाता है। व्यापार में व घर में, व्यवहार में या दहेज के लेनदेन में सब ओर धन-संग्रह की प्रवृत्ति प्रमुख होने से वाणी और कार्यों से मनुष्यों की हिंसा कर देते है। ऐसे दृष्टान्त आज सामने हैं जहाँ जैन परिवारों के घरों में दहेज के लिए बहुओं को सताया ही नही जा रहा है उन्हें मार भी डाला गया है। व्यापार में भी नैतिकता को प्रमुखता न देकर धन-संग्रह को प्रमुखता दी जाती है, इसके लिए चोरी, कपट, मिलावट सब किये जाते हैं और इसका निषेध होते हुए भी इन कार्यों को करने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती।

श्रावक धर्म नैतिक मूल्यों का स्थापन था, समन्वय व सरसता लाने का साधन था। मानवीय गुणों के विकास के मार्ग से संघर्ष को हटाकर ही शान्ति स्थापित की जा सकती है।

ज्ञान अर्थात् विवेक, दर्शन अर्थात् समदृष्टि या समता और चरित्र अर्थात् शील व नैतिक व्यवहार, ये मुक्ति के मार्ग बताये गये हैं।

परन्तु जब विवेक की बजाय केवल व्रतों का पालन रूढ़ि से करें और विवेक के अनुसार कार्य न करें तो ये ही ज्ञान, दर्शन, चरित्र शब्द मुक्ति-मार्ग न बन कर बंधन के मार्ग बन जाते हैं। शास्त्रों और भाषा व परिवेश से चिपक कर समता का दर्शन करने की बजाय सम्प्रदाय-पोषण में लगने से संघर्ष बढ़ता है और समाज में एकता व समता की बजाय बिखराव व टकराव पैदा होता है।

समाज को अपने व्रतों को पुनः शोध कर उनकी भावना के अनुरूप संघर्ष समाप्त करने की राह अपनानी होगी। यह समय रहते न किया तो विग्रह और विघटन ही हमारा गन्तव्य होगा।

☐

धर्म का स्वरूप

संवत्सरी की शाम को प्रतिक्रमण[1] हो रहा है और 'मिच्छामि दुक्कडं'[2] की गूंज बार-बार आ रही है। सब एक स्वर में बोल रहे है। कुछ भाइयों से पूछा कि यह मिच्छामि दुक्कडं आपने किस बात का किया ? अधिकांश ने यही कहा, हमें मालूम नही, किस बात का किया। जो भाई प्रतिक्रमण करा रहे थे हम तो उनका अनुसरण कर रहे थे। हमें क्या मालूम, वे क्या बोल रहे थे ?

संवत्सरी के दूसरे दिन क्षमायाचना का दिन—'खमाऊं सा'[3]; अपने सगे-साथी व सम्बन्धियों से 'खमाऊं सा' का अभिवादन चल रहा है। परन्तु अधिकांश में यह अभिवादन उन्ही से है जिनसे प्रेम है। गत वर्ष में जिनसे वैर-विभाव हुआ उनसे यह आदान-प्रदान शायद ही होता है।

---

1. विगत में किये गये असत् कार्यों की आलोचना का नियमित क्रम।
2. पश्चाताप करता हूं।
3. क्षमा याचना करता हूं।

सामायिक हो रही है। माला फेर रहे हैं। भजन में प्रवृत्ति हो रही है। यह क्रम शायद वर्षों से चल रहा है। एक नित्यनियम चल रहा है। साधना में कितने आगे बढ़े हैं इसकी समीक्षा कोई विरले ही करते हैं। सामायिक करने का नियम है, अतः सामायिक हो रही है। यही हाल मन्दिर में दर्शन-पूजा का है।

ऊपर कुछ बातें उदाहरणस्वरूप लिखी हैं। ऐसी कई परिपाटियो के उदाहरण ले सकते हैं। अपने आप में इनमें कोई दोष नहीं है। जिस मूल भावना से इनकी प्रवृत्ति हुई और अब जिस रूप में है उनके सम्बन्ध मे यही प्रश्न उठता है कि क्या धर्म का मूल इन परिपाटियो में आकर बस गया है ? धर्म परिपाटी में है या धर्म का रहस्य कही और है। क्या परिपाटी की समीक्षा समय-समय पर होकर काल-क्षेत्र के अनुसार परिवर्तन नहीं होना चाहिए ?

समय-समय पर यह समीक्षा होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में केशी-गौतम संवाद में एक महत्त्वपूर्ण वाक्य आया है—

'पन्ना समिक्खए धम्मं' —उत्तराध्ययन 23 25

साधक की अपनी प्रज्ञा ही समय पर धर्म की समीक्षा कर सकती है। चार याम धर्म हो या पांच व्रत का, यह साधक की प्रज्ञा के अनुसार पलटना आवश्यक समझा गया।

इसी प्रकार शुभचन्द्राचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' में लिखा है— अनेन नृशरीरेण यल्लोकद्वय शुद्धिदम् ।
विवेच्य तदनुष्ठेयं कर्म ततोऽन्यथा ।।

इस प्राणी को चाहिए कि इस मनुष्य देह से उभय लोक में शुद्धता को देने वाले कार्य का विचार करके अनुष्ठान करे और उससे भिन्न अन्य सब कार्य छोड़ दे।

उपर्युक्त बात से स्पष्ट है कि प्रत्येक साधक को अपनी राह चुनने की पूरी स्वतन्त्रता है और परिपाटी की अपेक्षा भावना पर अधिक बल है। परिपाटी रूढ़ होने से धर्म कलेवर तक सीमित हो जाता है

श्रीर कलेवर से आत्मा जा चुकी होती है। अतः समय-समय पर परिपाटी की समीक्षा होनी अत्यन्त आवश्यक है।

इसी सम्बंध में भगवान् महावीर का यह प्रयास कि उनके उपदेश जन भाषा में होंगे, न कि संस्कृत में, एक क्रांतिकारी कदम था। परन्तु वही भाषा आज समझ में न आने से संस्कृत के समकक्ष हो गई है। अब मूल भावना को ध्यान में रखते हुए शास्त्रों और पूजा की विधियों का जन भाषा में सुलभ होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार के कई उदाहरण हो सकते हैं।

धर्म और परिपाटी के विवाद में उलझने से पूर्व कुछ शास्त्रोक्त सूक्तियों का अध्ययन करलें जिससे स्पष्ट हो कि धर्म कहां निहित है और उसके मूल तक पहुंचने में परिपाटी साधक है या बाधक? वर्तमान परिपाटी क्यों चली व इसको तोड़ना आवश्यक है या नहीं, यह इसके बाद ही विवेचित हो सकेगा।

धर्म की व्याख्या चार प्रकार से की गई है—

1. वस्तु स्वभाव या निश्चय रूप धर्म :

वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका धर्म कहा है। आत्मा का अपने स्वभाव में रमण ही आत्मा का धर्म कहा है। 'प्रवचनसार' के अनुसार आत्मा ही धर्म है, अर्थात् धर्म आत्मस्वरूप होता है। 'भगवती सूत्र' में भी निम्न प्रकार कहा है—

"हमारी आत्मा सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान का अर्थ, संयम व संयम का अर्थ, संवर व संवर का अर्थ, विवेक व विवेक का अर्थ, व्युत्सर्ग और व्युत्सर्ग का अर्थ आत्मा है।"

—भगवती सूत्र, शतक-1, उद्देश्य एक 9

'समयसार' में निम्न प्रकार कहा है—

आया खु मज्झ णाण आया मे दंसण चरित्ते य,
आया पच्चखाणे आया मे सवरे योगे।

—समयसार-296

अर्थात्–मेरी आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है।

आत्म स्वभाव को समझना और इसी में रमण करना धर्म का रूप माना है। इस दृष्टिकोण से मुमुक्षु अपना अनुष्ठान निश्चित करे तो स्पष्ट है कि वर्तमान परिपाटियों से मुक्ति पाये बिना वह अपने आत्म-स्वभाव तक नहीं पहुँच सकता। उसे अपना रास्ता स्वयं ही ढूँढना पड़ेगा।

2. रत्नत्रय रूप धर्म :

उमास्वाति ने अपने 'तत्वार्थ सूत्र' के प्रथम वाक्य में ही धर्म का सार निम्न शब्दों में दिया है—

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ही मोक्ष मार्ग है। जो मोक्ष मार्ग है वही धर्म है। अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति ही मोक्ष मार्ग है। जीवादिक नवतत्त्व में श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, इनकी यथार्थ जानकारी सम्यग्ज्ञान है और रागादि विभाव भावों को दूर करना ही सम्यक्चारित्र है। इसमें दर्शन, ज्ञान व चारित्र का समन्वय है। केवल ज्ञान या केवल चारित्र पर बल नहीं है। यथार्थ समन्वय से ही मोक्ष-मार्ग उपलब्ध हो सकता है। इस कथन में प्रथम प्रकार की व्याख्या से कोई विरोध नहीं है। एक प्रकार से प्रथम प्रकार की व्याख्या का ही खुलासा रूप है। आत्मस्वरूप को जानना, उसमें श्रद्धा होना और उसी के अनुरूप आचरण करना क्रमशः सम्यक्ज्ञान, दर्शन व चारित्र है।

3. क्षमादिक दस लक्षण रूप धर्म :

धर्म को दस लक्षण के रूप, यथा–क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य–में प्रकट किया गया है। यह सिद्धांत को व्यवहार में प्रकट करने का प्रयास है। धर्म को मुमुक्षु को समझाने के लिए सरल व व्यावहारिक भाषा में प्रकट करने हेतु दस लक्षण दिये और इसके अनुरूप व्यवहार करे तो वह समझे कि धर्म के मार्ग पर चल रहा है। यह धर्म का व्यावहारिक स्वरूप है। इसी

से परिपाटी (Ritual) का जन्म होता है। सिद्धांत स्वरूप ये भी मोटे रूप हैं। इनके भी फिर कई छोटे रूप में परिपाटी बनती है और अधिकांश में वे औपचारिकता का भी रूप ले लेती है। उदाहरणतः भोजन में संयम होना एक मोटा व्यवहार रूप है। इसके छोटे रूप रात्रि भोजन त्याग, विगह त्याग, हरी सब्जी का त्याग, अष्टमी-चतुर्दशी को हरी सब्जी या भोजन का त्याग आदि बन जाते हैं। इसी प्रकार क्षमा की परिपाटी ने वार्षिक क्षमापना का रूप ले लिया।

4. दया रूप धर्म :

प्राणी मात्र पर दया और उससे मैत्री रखने की बात अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह आदि सिद्धांतों के रूप में प्रकट होती है। प्राणी के प्रति दयाभाव ही अहिंसा है। अहिंसा के व्यापक सिद्धांत की पालना में सहायक अनेकांत व अपरिग्रह है। परिग्रह सब हिंसा क मूल है। परिग्रह ही असत्य, चौर्य व अब्रह्मचर्य का मूल है। बिना परिग्रह त्याग के अहिंसा की साधना पूर्ण नही हो सकती।

तुलसीदास जी ने भी कहा है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण।।

आगे चलकर फिर कहा है—

पर हित सरिस धरम नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।

ये छोटे-छोटे वाक्य धर्म की मूल भावना को प्रकट करते है। सम्यक्त्व के पांच लक्षण कहे है—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा व आस्था। उससे भी स्पष्ट है कि बिना करुणा या अनुकम्पा के सम्यक्त्व या श्रद्धा प्राप्त नहीं हो सकती।

'आचारांग' में इस मूल सिद्धांत को प्रकट किया कि कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता, अतः उसको मारने में कोई धर्म नहीं हो सकता। यह बात उस काल में प्रचलित पशुबलि व यज्ञ के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत को महावीर ने धर्म-प्रक्रिया तक ही निषेध

करके नहीं छोड़ा, अहिंसा को धर्म की परिपाटी न बना कर रहन-सहन व जीवन का एक मूल अंग बनाया। अहिंसा को जीवों की स्थूल हिंसा तक ही सीमित नहीं किया, वरन् भावना से भी क्लेश पहुंचाने का निषेध किया। अहिंसा का इतना व्यापक रूप जीवन में तब ही उतर सकता है, जबकि हृदय में दया व्याप्त हो।

अठारह पाप, चार कषाय, दुर्ध्यान, पांच अणुव्रत व महाव्रत आदि सब मूलतः अहिंसा के आधार हैं। अनेकांत भी विचारों में अहिंसात्मक बनने का सिद्धांत है। बातचीत और सिद्धांत-चर्चा में भी हम दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करें। इतनी व्यापक अहिंसा और दया भावना रूप धर्म को किसी निश्चित परिपाटी में बांधना धर्म को सीमित करना है।

प्रत्येक युग में प्रचलित कार्यकलापों के अनुसार धर्म का निर्धारण हुआ। किसी समय में यदि लोग कोयला बनाने, वन काटने, हाथी दांत का कार्य करने में रत थे तो उसको मोटी हिंसा मान कर उनका निषेध किया और इसी का परिणाम है कि अधिकांश जैनधर्म के अनुयायी इन कार्यों में संलग्न नहीं मिलते, परन्तु तब से अब युग बदल गया है। कई धन्धे व कार्य ऐसे बन गये जो उपर्युक्त कार्यों से भी अधिक हिंसात्मक हैं। कई ऐसी कुप्रथाएं हो गईं जिनका व्यापक निषेध आवश्यक है। प्राणघातक मिलावट के कार्य, ब्याजखोरी, जमाखोरी, तस्करी, रिश्वतखोरी आदि ऐसे कार्य हैं जो किसी भी प्रकार से जैन सिद्धांतों के अनुकूल नही हैं, परन्तु कई जैन अनुयायी इन कार्यों में संलग्न है। अधिक ब्याज, जमाखोरी व काला बाजारी के आरोप में कई जैन धर्मानुयायी पकड़े गये हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उनमे से कई जैन धर्म के कट्टर भक्त और नेताओं में गिने जाते है, क्योंकि मन्दिर बनाने में, दान आदि देने में वे अग्रणी रहते हैं।

यहीं पर नवयुवक विद्रोह करता है कि क्या जैनधर्म की अहिंसा पानी छानने, हरी सब्जी नही खाने और रात्रि भोजन त्याग तक ही सीमित है? क्या अधिक ब्याज और जमाखोरी से मानवों का शोषण और उनकी हत्या नहीं की जा रही है? क्या यह जैनधर्म के अनुकूल

है ? यदि नहीं तो इसका प्रत्यक्ष विरोध और समाज से बहिष्कार क्यों नहीं ? क्यों साधु-समाज ऐसे व्यक्तियों को प्रश्रय देता है ? काला बाजारी और सूदखोरों के घर से जैन साधु को गोचरी नहीं कल्प सकती क्योंकि वहां अहिंसात्मक ढंग से कमाई गई आय से भोजन नहीं बना है। वह भोजन 'रक्तसिक्त' है। जो लोग शादी में आडम्बर करते हैं, दहेज व टीका लेते हैं, तपस्या के जुलूस निकाल कर आडम्बर करते हैं, वे सब जैनधर्म के प्रतिकूल कार्य करते हैं। जो धन मानवहित में, प्राणीहित में खर्च होना था, वह आतिशबाजी, बाजे, घोड़े आदि में व्यय होता है। जो धन गरीबों को खाना खिलाने में लगना चाहिए था वह अमीरों और समकक्ष लोगों को दिखाने में लगता है। यदि यही करुणा की सीमा है और यही धर्म का दायरा है तो हम जिनधर्म का गलत प्रचार कर रहे हैं।

मात्र मन्दिर में दर्शन कर लेने या महाराज का व्याख्यान सुन लेने से धर्म नहीं होता है। धर्म कोई परिपाटी नहीं है। धर्म का अर्थ है—होना या बनाना, धर्म का अर्थ है—आत्मीकरण और अनुभवीकरण। जब तक इस गहराई में जाकर हम साधना को सच्चा रूप नहीं देते है, तब तक केवल मुखौटा लगाकर ही घूम रहे हैं। परिपाटी के साथ चल कर केवल मन को सन्तोष दे रहे हैं कि हम भी धर्म का पालन कर रहे हैं; परन्तु जब तक अन्तर्मन की शृंखला को झटका नहीं लगता, धर्म का कोई अंश भी छूने का गर्व हम नही कर सकते।

आवश्यक है कि प्रचलित परिपाटियों की समीक्षा की जाय, साधकों को व्यापक रूप से अन्तर्मन तक पहुंचने का व आत्म-निरीक्षण करने का प्रशिक्षण दिया जाय। सही सामायिक क्या है व कैसे की जाय, सही प्रतिक्रमण क्या है व कैसे हो, इसका भी प्रशिक्षण होना चाहिए। मूल बातें व व्यवहार क्या हों और गौण क्या हों, इन पर विचार कर समयानुकूल व्यवहार में परिवर्तन करना चाहिए।

□

क्षमा

जैन संस्कृति में क्षमा याचना का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांसारिक कार्यों की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण दिन आते हैं, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसे दिन बहुत कम है जब व्यक्ति को यह प्रेरणा दी जाय कि वह आत्मशोधन कर अन्तर में झांके और अपनी त्रुटियों के लिए सबसे क्षमा याचना करे, सबसे मैत्री स्थापित करे। क्षमा याचना करने से पूर्व अन्तरावलोकन करे। अपने आचार-विचार में लगे दोषों की आलोचना करने पर ही क्षमा याचना एवं मैत्री की उदात्त भावना प्रस्फुटित होती है।

सच्चा आत्मशोधन कब हो पाता है? केवल परम्परा के अनुसार निर्धारित पाठ पढ़ने या अपने किये हुए कृत्यों को ऊपरी रूप से मिच्छामि-दुक्कडं करने से या उपवास और पौषध करने से अथवा क्षमा

याचना के पत्र सब जगह भेजने से ? ये सब बाहरी व्यवहार हैं; जो आवश्यक हैं परन्तु इनके पीछे एक गहरी आन्तरिक प्रक्रिया निहित है। जब तक हम उस आन्तरिक प्रक्रिया से नहीं गुजरते हैं सच्चा आत्म-शोधन नहीं कर सकते।

हमारा नित्य का व्यवहार अधिकांश में चित्त और अहं द्वारा सचालित होता है। मन और बुद्धि हमें जानकारी देने में सहायक हैं, परन्तु निर्णय लेने में बुद्धि के साथ चित्त यानी–संस्कार, संकल्प और विकल्प तथा अहं अर्थात् कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भावना कार्य करती है। कोई कार्य हमें करना है या नहीं इसमें हमारा अहं व संस्कार कार्य करते हैं। संस्कार में हमने कई बातें पहले से इकट्ठी कर रखी हैं, जैसे क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या हमें सुख देगा, क्या दुःख देगा आदि। इसी के साथ संकल्प जुड़े हैं, मैं क्या करूंगा, क्या बनूंगा आदि। अहं में हम अपने बारे में सोचते हैं – मैं कितना बड़ा हूं, मेरा कितना मान है, मुझे क्या चाहिये आदि। इन संकल्पों और अहं की पूर्ति में ही दिन-रात व्यक्ति लगा रहता है। जो व्यक्ति या वस्तु संकल्प एवं अहं की पूर्ति करते हैं वे प्यारे लगते हैं। जो इसकी पूर्ति नहीं करते या राह के रोड़े बनते हैं वे खराब लगते हैं, उनसे घृणा या द्वेष रहता है। मनुष्य इन्हीं प्यारी वस्तुओं व व्यक्तियों के सग्रह और अनचाही वस्तुओं व व्यक्तियों के हटाने में ही पूरा जीवन बिता देता है। जीवन बीत जाता है और पता ही नहीं लगता कि सारा जीवन इस निम्न स्तर को उधेड़बुन में ही बीत गया।

जितना गहरा संकल्प है और जितना बड़ा अहं है उतना ही गहरा राग या द्वेष होता है। उसी के अनुपात में दुःख या आघात लगता है अनचाही वस्तु के मिलने या चाही वस्तु के खोने पर। अहं पर आघात करने वाले के प्रति कितना द्वेष जागता है यह इसी पर निर्भर करता है कि अहं को हमने कितना महत्त्व दिया है। अहं ही हमारे सब पापों की जड़ है। तुलसीदासजी ने कहा भी है – "दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।" अभिमान या अहं से ही महाभारत जैसे भीषण युद्ध की

घटना हुई। इतिहास में अनेक घटनाएं है जो किसी व्यक्ति या राष्ट्र के अहं की वजह से हुई और कितनी हानिप्रद रहीं।

यही वात हमारे दैनिक जीवन पर लागू होती है। हम अपनी इन्द्रियों के आधार पर वाहरी जगत का आस्वादन कर निश्चय करते हैं कि कौनसी वस्तु चाहिये और कौनसी नहीं चाहिये। चाह के साथ ही राग और द्वेष प्रारम्भ हो जाता है। यही हमारे वंधन का कारण बनता है। यहां वंधन का अर्थ कर्म-वंधन से नहीं है। यहां तो इन सांसारिक वस्तुओं से बधन का ही अर्थ है। वंधन में जितनी गहरी आसक्ति है उतनी ही उस वस्तु को पाने की तीव्र लालसा होगी। उसी की प्राप्ति में दिन रात लगेगा। वस्तु की प्राप्ति से वह सुखी महसूस करेगा, लेकिन जैसे ही वह वस्तु प्राप्त हुई, चाह समाप्त नहीं होती, नई चाह जन्म लेती है—यह क्रम चलता ही रहता है :

तृष्णा तुष्ट नहीं होती,
कर लो अविरल यत्न।
मिटने से पहले,
देती दूसरी को जन्म॥

जैसे चाही वस्तु में आसक्ति है वैसे ही अनचाही वस्तु से वैर भी है। आसक्ति और वैर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जव अनचाही वस्तु मिलती है या चाही वस्तु का अभाव होता है तो वैर या द्वेष में व्यक्ति रमण करता है। यदि कोई अपने दुःख का कारणभूत व्यक्ति या प्राणी सामने आ जावे तो वह उसे अपना जानी दुश्मन मान बैठेगा। संकल्प तीव्र हो तो वैर एक जन्म का नहीं वह कई जन्मों का वाध लेगा। थोड़ी देर के लिए भी क्रोध या द्वेष आता है तो कितना दु.ख होता है, यदि यह क्रोध या वैर जीवनपर्यन्त चले तो कितना दु.खदायी होगा! इसकी कल्पना उस हाथी से कीजिये जो वैर के प्रतिशोध में वन-वन घूमता है और इस क्रम में भूख-प्यास सव भूल जाता है। यदि यही दशा हम अपनी भी करलें तो क्या होगा? दुःखी ही होंगे।

अपने दुःख का कारण जव वाहर किसी व्यक्ति या प्राणी में देखते हैं तो वैर वांध कर वदला लेने की सोचते है। जव वाहर किसी

प्राणों में नहीं देखते तो प्रकृतिदत्त मानकर तड़फते रहते हैं, कभी किस्मत को दोष देते है तो कभी भगवान को ।

परन्तु, यदि हम अन्तर्मुखी होकर देखें तो प्रतीत होगा कि यह सब प्रक्रिया व्यर्थ है । जो कुछ हो रहा है वह हमारे अहं की वजह से हो रहा है । बाहरी वस्तुओं में भोगवृत्ति या संस्कारवृत्ति की वजह से हो रहा है । यह बाहरी वस्तुएं अनित्य हैं । इनके आने से भी कोई मतलब सिद्ध नहीं होता और न जाने से । किसी को गाली देने से भी हमें कोई फोड़ा उत्पन्न नहीं होता और प्रशंसा करने से चन्दन की खुशबू नहीं आती । परन्तु, हमारे अहं व संस्कार की प्रक्रिया इतनी गहरी है कि वाणी के स्तर पर तो हम यह बात मान जाते हैं, परन्तु जब स्वयं पर बीतती है तो सब भूल जाते हैं और तत्काल प्रतिक्रिया कर बैठते हैं । यह प्रतिक्रिया का क्रम चल पड़ता है और संसार द्रोपदी के चीर की तरह फैल जाता है ।

अंतर में पैठ कर अहं व चित्त का निरीक्षण कर अपने से हुई सब त्रुटियों व अतिचारों से पीछे हट कर सब जीवों से आन्तरिक क्षमा याचना करने से वैर की कड़ी टूटती है, प्रतिक्रिया का संसार रुकता है । प्रज्ञा व विवेक से इस संसार को समाप्त करने का यही तरीका है कि जो हो रहा है उसे जानें व देखें और जो भी प्रतिक्रिया करें वह अंधी प्रतिक्रिया न होकर जागरूक प्रतिक्रिया हो । यह प्रतिक्रिया अहं या संस्कार से उत्पन्न न होकर प्रज्ञा या विवेक से उत्पन्न हो । जो भी शब्द कान में आवे या जो भी रूप सामने आवे उसे अनित्य भाव से देखें तो उसके प्रति न राग आवे और न द्वेष । समता में स्थित हो जावें । जब समता आयी तो सब कुछ आ गया ।

जैन संस्कृति का संवत्सरी पर्व—वैर की कड़ी तोड़ने का अवसर देता है । इस अवसर पर दिल की गहराई में जाकर अपने शूल व कांटों को, ग्रन्थियों को टटोलें, ऊपर लावें और जिनसे जरा भी वैर है, झगड़ा है, द्वेष है वहां अहं को गलाकर क्षमायाचना करें, क्षमा करें और मैत्री स्थापित करें । यही हमारी सच्ची व सही क्षमायाचना है । इससे हम कितने हल्के होंगे, यह अपने आप महसूस करेंगे ।

इसको औपचारिक पर्व भी न मानें। यह आध्यात्मिक पर्व है। हृदय की गहराई का पर्व है। इसकी महत्ता को ध्यान में रख जीवन में क्षमा भाव लावें। प्रतिदिन अपने जीवन का अवलोकन करें। जो व्यक्ति क्षमायाचना कर वैर की शृंखला बनने नहीं देते वे धन्य हैं। परन्तु, वर्ष में कम से कम एक बार तो हम यह प्रक्रिया अपना कर अपनी गुत्थियों को सुलझा लें, इसी में हमारे जीवन की सरसता है, सुखी होने की कुंजी है। 

समता

समता का अर्थ अनेक रूप से लगाया जा सकता है और कई रूपों में इसका प्रयोग होता है। परन्तु जैन धर्म में समता को जितना महत्त्व दिया गया है उतना शायद ही किसी अन्य दर्शन में। इस दृष्टिकोण से यह समझना आवश्यक है कि समता किस प्रकार अबाध सुख का मार्ग बन सकती है।

समता का अर्थ प्रायः हम संतुष्टि से लेते हैं—जो है उसमें संतोष करो और जो नहीं है उसके लिए व्यग्रता न हो। यह जीवन का एक दृष्टिकोण या दर्शन है। इस प्रकार का दृष्टिकोण रहने से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आता है। मनुष्य के पास बहुत कुछ है परन्तु उसको इसका ज्ञान नहीं। वह बहिर्मुख होकर देखता है कि बाहर क्या है जो उसके पास नहीं है। बाहर क्या है, उसमें भी अधिकांश में व्यक्ति वे ही वस्तुएँ देखेगा जो वस्तुस्वरूप हैं। जो है, उससे संतुष्टि न होने पर

जो नहीं है उसके लिए आकांक्षा बढ़ती है, व्यग्रता बढ़ती है और वह व्यक्ति असंतुष्ट हो जाता है।

समता का जब यह अर्थ लगाते हैं कि जो है उसमें संतुष्टि करें तो आपत्ति होती है कि इससे व्यक्ति उदासीन व अप्रयत्नशील बनेगा। यह दृष्टिकोण अकर्मण्यता की ओर ले जाता है। परन्तु यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि संतुष्टि यह किस चीज से करे। संतुष्टि उन वस्तुओं से प्राप्त करे जो बाहरी हैं और जिनको प्राप्त करने या न करने में राग-द्वेष का व्यापार होता है। अपने निज गुणों के प्रति संतुष्टि का प्रश्न नहीं आता। निज गुणों की आय व अवगुणों का निष्कासन, यह कार्य तो करना है परन्तु इसमें भी व्यग्रता की आवश्यकता नहीं। इसमें भी समता आवश्यक है।

समता के अन्य अर्थ भी हैं। समता का अर्थ सन्तुलन या इक्वीलिब्रियम (equilibrium) से भी ले सकते हैं। सन्तुलन जीवन का रहस्य है। यह प्रकृति के हर क्षेत्र में दिखाई देता है। जीव-संसार में या दैनिक व्यापार में हर चीज सन्तुलन की ओर बढ़ती है। जहां सन्तुलन खोता है, प्रकृति स्वतः सन्तुलन लाने की कोशिश करती है।

जीव-संसार को ही लें। विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, घास, वृक्ष आदि एक दूसरे का सन्तुलन बनाये रखते है। यदि किसी एक प्रकार के पशु-पक्षी या कीड़े की कमी या वृद्धि हो जाती है तो प्रकृति उसको पुनः सन्तुलन में लाने की कोशिश करती है। यदि चूहों का प्रकोप ज्यादा हो तो सांप उसको सन्तुलन मे लाते है। पशु ज्यादा हों और हरे वृक्ष या घास कम हो तो पशुओं का ह्रास होने लगता है। प्रकृति को अपने में सन्तुलन बनाये रखने की प्रवृत्ति है। जब बाहरी ताकत, जैसे मानव इस सन्तुलन को बिगाड़ता है तो फिर से असन्तुलन की कई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। जैसे किसान अपने खेतों में सांपों को मार देते है तो चूहे उनके लिए समस्या खड़ी कर देते है। मानव ने वृक्षों को समाप्त किया तो पशु-पक्षी भी कम हो गये। अतः, मानव का पर्यावरण मे दखल हानिकारक है और असन्तुलन का भय रहता है।

इसी प्रकार मनुष्य भी अपने 'स्वभाव' में रहने पर सन्तुलन में रहता है तो वह सुखी रहता है, परन्तु जब वह बाहरी वस्तुओं को हड़पने की दौड़ में लगता है तो असन्तुलन को प्राप्त होता है और दुःखी होता है। समाज में भी सभी वर्गों में सन्तुलन होता है तो समाज सुखी होता है परन्तु जब विभिन्न वर्गों में असन्तुलन होता है या खाई बढ़ती है तो समाज में संघर्ष पैदा होता है।

मानव के स्वभाव में सन्तुलन आवश्यक है। क्रोधी हो और उसमें क्षमा का कोई अंश न हो तो वह क्रोध की वजह से जगह-जगह दुःख उठावेगा और खुद भी दुःखी रहेगा व अन्य को भी दुःखी करेगा। अधिक लोभ, अधिक माया या कपट इसी प्रकार के फल देते हैं, परन्तु यदि सन्तुलन हो तो वह आदमी दुःखी नहीं होगा।

क्रोध, मान, माया व लोभ को कषाय माना है और इसे कर्म-बंध का कारण माना है। सुख के बाधक ये कषाय ही हैं; परन्तु प्रश्न उठता है कि यह कषाय आते कहां से है और क्यों? कोई भी प्राणी क्रोध क्यों करता है? क्रोध का मूल कारण है 'स्व' या 'अहं' पर आघात। यदि स्वयं का अस्तित्व खतरे में है या स्वयं की वह वस्तु जिसे वह बहुत चाहता है, वह नहीं मिलती है या छिन जाती है या जो स्वयं की कल्पना या चाह है उसे ठेस लगे तो क्रोध स्वाभाविक है। अब क्रोध कितना आता है और कब वापस सन्तुलन में आता है, इसी पर उस आदमी का सुख-दुःख व कर्मबंध निर्भर है। क्रोध की मात्रा इस बात पर निर्भर करेगी कि उस व्यक्ति ने कितनी ठेस महसूस की। स्वयं को या अहं को कितना महत्त्व दिया और उस पर कितनी ठेस महसूस की, उसी के अनुरूप उसको गुस्सा आवेगा। अब यह गुस्सा कितनी देर तक आता है और गुस्सा कब शांत होता है यह सब अपने सन्तुलन पर निर्भर करता है। हम अपने आप पर कितना नियन्त्रण कर सकते हैं और कितनी जल्दी समता में आ सकते हैं, यह सब हमारे चिपकाव पर निर्भर करता है। जितना अधिक अपने अहं या बाहरी वस्तु से चिपकाव है उतना ही अधिक क्रोध होगा और वह उतनी ही देर तक रहेगा। यदि स्वयं पर आघात है तो मुझे अधिक गुस्सा आवेगा। यदि पड़ौसी पर है

तो कम आवेगा या नहीं आवेगा। अतः चिपकाव से ही कषाय का सम्बन्ध है। कषाय कम करने का साधन चिपकाव कम करना ही है।

चिपकाव 'मैं' से है या 'मैं' को पसन्द वस्तुओं से है। जितना चिपकाव उतना ही कषाय। 'मैं' में स्वयं का शरीर व स्वयं की मूर्ति या इमेज या 'ईगो' या अहं शामिल है। शरीर व इसके अहं के पोषण के लिए व्यक्ति धन, जन व अन्य बाहरी साधनों को जुटाने का प्रयास करता है। बाहरी वस्तुओं में ही इष्ट व अनिष्ट की कल्पना करता है। इन्हीं वस्तुओं में वह मूर्च्छा कर राग और द्वेष उत्पन्न करता है और कभी अतिरंजित होता है तो कभी अतिक्रोधित। इसी में वह सन्तुलन खोता है और यही समता का नाश है।

जब विवेक जागृत होता है और बाहरी वस्तुओं में इष्ट व अनिष्ट की कल्पना समाप्त करता है और उनमें मूर्च्छा समाप्त करता है, वहीं समता प्रारम्भ होती है। वही सम्यक्त्व है।

'आचारांग सूत्र' में भी कहा है :

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे।

अर्थात्–गुणी (मूर्च्छित) है वह आवृत्ति करता है, संसार में बार-बार जन्म लेता है और जो आवृत्ति करता है वह गुणी (मूर्च्छित) है।

आगे 'आचारांग सूत्र' में इसी बात को बढ़ाते हुए कहा है कि जो मूर्च्छित है वह आज्ञा में नही है और संसार में आवृत्ति करता है। इसी मूर्च्छा के आधार पर आत्मज्ञानी कहते है कि बंध व मोक्ष तेरे मन में ही हैं।

वस्तुओं में मूर्च्छा ही विषमता है और स्व पर नियन्त्रण ही समता है। समता में ही मुक्ति है और विषमता में बंधन व दुःख है। जीवन में सन्तुलन व समता ही जीवन जीने की कला है। कषाय से पूर्ण मुक्ति तो लम्बी चीज है; परन्तु कषायों पर नियन्त्रण और सन्तुलन हमारे 'दुःख' व 'कष्टों' को दूर करने की कुंजी हैं।



विनय

ध्यान मुद्रा में योगी खड़ा है। कुछ खबर नहीं कि बाहरी दुनिया में क्या हो रहा है। शरीर का भी भान नहीं है; शरीर पर बेलें चढ़ गई हैं, आस-पास में झाड़ खड़े हो गये हैं। वर्ष बीत गये, योगी अपने अन्तर में डूबा खड़ा है। अपने आपको खोज रहा है। इस महान् तपस्वी को दो साध्वियां सम्बोधन कर कह रही हैं—'योगीराज ! हाथी पर से उतरो।' योगी के कान में यह बात पड़ती है और सोचता है—यह किसको कहा ? क्यों कहा ? क्या अर्थ है ? मैं तो पांव पर खड़ा हूँ, मुझ से कौन कह रहा है कि मैं हाथी पर से उतरूं ?

उपयोग लगाया और योगी ने ध्यान तोड़ कर पांव उठाया चलने के लिये और उसी वक्त उसे केवलज्ञान अथवा पूर्ण बोधि प्राप्त हो गई। जिसके लिये वह वर्षों से तप में लीन था वह क्षण में मिल गई। यह विनय की महत्ता थी।

कौन था वह योगी ? वे थे महान् योगी आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र बाहुबली जिन्होंने भरत से मुष्ठियुद्ध करते हुए वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा ली, परन्तु इस अहं से ऋषभदेव के पास दीक्षा नहीं ली कि उनके अनुज भ्राताओं ने पहले दीक्षा ले ली थी तो अब वहां उनको नमन करना पड़ेगा। अत: अपना ध्यान अलग ही लगाया। सब कुछ प्राप्त कर लिया, परन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो पाया। दो साध्वियां-ब्राह्मी और सुन्दरी उन्हीं की बहनें उद्‌बोधन देने आई कि अपने से पूर्व दीक्षित साधुओं की विनय न करने का अहं त्यागो—अहं रूपी हाथी से उतरो। बस इतना ही झीना पर्दा रह गया था। इसी विनय की कमी से सालों की तपस्या का फल नहीं मिल रहा था।

इसीलिये विनय को धर्म का मूल कहा है। सब शास्त्र पढ़कर यदि अहं प्राप्त किया तो यह मोक्ष मार्ग के विपरीत आचरण है और धर्म का उल्टा ही अर्थ है। कहा भी है 'विद्या ददाति विनयम्' — सही विद्या वही है जो विनय दे। जिस विद्या या ज्ञान से विनय प्राप्त न हो, वह सही ज्ञान ही नहीं है। विद्या से विनय प्राप्त कर के ही व्यक्ति पात्र बनता है और आगे चलकर मुक्त होता है।

महावीर ने अपने अंतिम उपदेशों में, जो 'उत्तराध्ययन सूत्र' में संकलित हैं, विनय को सर्व प्रथम स्थान दिया। विनयहीन शिष्य को 'सड़े कान की कुतिया' की संज्ञा दी, जिससे सब घृणा करते हैं। वह कुतिया जिस प्रकार प्रताड़ित कर भगाई जाती है, अविनीत व्यक्ति भी समाज या संघ से भगाया जाता है।

व्यवहार और शिष्टाचार ही नहीं, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी विनय के अभाव में कोई उत्थान संभव नहीं, जैसा बाहुबलीजी के दृष्टान्त से स्पष्ट है। व्यवहार में अपने से बड़े व ज्ञानियों के प्रति तो विनय आवश्यक है ही, अपने जीवन में हर प्राणी के प्रति भी विनय आवश्यक है। विनय का अभाव अहं में प्रदर्शित होता है और अहं ही हमारी मुक्ति का सबसे बड़ा बाधक है।

यदि हम अपने जीवन का निरीक्षण करें और पूछें कि हम हिंसा क्यों करते हैं या झूठ-चोरी आदि क्यों करते हैं, तो उत्तर आयेगा—

अपने जीवन-यापन के लिये, यश, कीर्ति धन एकत्र करने के लि , अपने नाम के लिये आदि। यह सब क्या है ? स्वयं के प्रति लगाव, जिसको अहं कहते हैं। इसी के पोषण के लिए हम असत्य, हिंसा आदि का सहारा लेते हैं। यदि हम यह जान लें कि यह 'मैं' कौन है और कितना अनित्य है, नश्वर है और इसे जीवन में उतार लें तो फिर किसके लिये धन एकत्र करेंगे और किसके लिये हिंसा या चोरी करेंगे। बस यहीं से धर्म-यात्रा स्वतः चालू हो गई। जहां अहं गला नहीं, वहीं विनय और धर्म सब एक ही जगह हैं। इसीलिए विनय को धर्म का मूल कहा। तुलसीदासजी ने भी पाप का मूल अभिमान बताया। अभिमान गला कि पाप मिटा और पाप का अभाव ही धर्म है।

विनय का जीवन-व्यवहार में महत्त्व है और यही हमारे जीने, रहने और सुख का आधार है। जिस घर में विनय का व्यवहार नहीं, वहां सुख का आधार ही नहीं। धर्म कुछ करने-भरने का नाम नहीं है बल्कि धर्म जीवन जीने की कला है और उसमें विनय का रस घुलने पर ही जीवन सरस बन सकता है। आध्यात्मिक जीवन हो या सांसारिक, सब जगह विनय ही मूल है और उसी शिला पर अक्षय सुख का भवन खड़ा हो सकता है।

□

सेवा

मेरा जीवन किसलिये है ? यदि यह प्रश्न पूछूँ और उत्तर आये कि यह केवल मेरे लिये है तो मैं अपने लिये ही धन कमाऊँगा, परिवार के लिये कमाऊँगा और आमोद-प्रमोद में जीवन बिताऊंगा। लेकिन, कई व्यक्ति पूरे जीवन में धन कमाने के बाद जब पीछे मुड़कर देखते है तो महसूस करते हैं कि जीवन काफी सूना और फीका रहा और तब वे दूसरों के लिये काम करने के लिये उद्यत होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन केवल अपने लिये नहीं बल्कि अन्य के लिये भी है और यही से धर्म और सेवा प्रारम्भ होते हैं। धर्म का मूल है–दया, करुणा और प्रेम। इसका व्यावहारिक रूप है–सेवा, सहानुभूति और सहायता। जब मनुष्य में दया और करुणा जागती है, तभी वह दूसरों की सेवा करने के लिये उद्यत होता है।

सेवा में प्रवृत्त होने के लिये या तो अन्तर्प्रेरणा जागती है या दूसरों के उपदेश से कार्य किया जाता है या जैसा समाज में होता है उसको

देखकर अनुकरण किया जाता है। अन्तर्प्रेरणा से जो सेवा प्रारम्भ होती है वह स्थायी होती है और निःस्वार्थ भी। इस प्रकार सेवा के क्षेत्र में आने वाले बहुत कम होते हैं। क्योंकि, बहुत ही पुण्य का उदय होता है तब अन्तर्प्रेरणा से कोई व्यक्ति निःस्वार्थ सेवा में लगता है। अधिकांश व्यक्ति जो समाज सेवा में प्रवृत्त होते है, वे उपदेश, अनुकरण या परम्परा के आधार पर होते हैं। सन्तों के उपदेश अनेक लोगों को सेवा में प्रवृत्त करते हैं और इसी प्रकार दूसरे व्यक्तियों को सेवा में प्रवृत्त देखकर व्यक्ति सेवा में लग जाता है। परिवार में भी जब वह देखता है कि घर के बड़े लोग सेवा में लग रहे हैं तो वह भी काम में लग जाता है।

ईसाई धर्म में किसी समय पादरी बनना एक गौरव की बात होती थी और प्रत्येक परिवार अपने एक व्यक्ति को इस कार्य के लिये अवश्य प्रेरित करता था, क्योंकि यह एक परम्परा थी और इसी से मिशन बने और पादरियों ने जगह-जगह जाकर निःस्वार्थ सेवा की, बलिदान दिया और पिछड़े इलाकों व कठिन परिस्थितियों में जाकर भी मानव सेवा की। इसी आधार पर 'रामकृष्ण मिशन' आदि संस्थाएं बनीं जो सेवा कर रही हैं।

उपदेश, अनुकरण या परम्परा से सेवा में वे ही व्यक्ति आ सकते हैं जिनमें अन्तःप्रेरणा की चिनगारी हो। यदि अन्तःप्रेरणा बिल्कुल नहीं है तो कोई व्यक्ति कितना ही उपदेश दे, सेवा में नहीं आ सकता। अतः अन्तःप्रेरणा तो मूल रूप है, लेकिन उसको व्यावहारिक रूप देने और पनपाने के लिये उपदेश और परम्परा काम में आती है।

भारत में और विशेष कर हिन्दू समाज में ईसाई धर्म जैसी परम्परा नहीं है और न ही व्यक्ति अनुकरण करके सेवा में प्रवृत्त होता है। जो भी थोड़ी बहुत सेवा लोग करते है वह अन्तःप्रेरणा से या कुछ उपदेश से करते है, लेकिन कोई ऐसी परम्परा नहीं है जैसी कि इसाई धर्म में है। इसका मूल कारण यह है कि धर्म को हमने मन्दिर की पूजा, सामायिक क्रिया और उपवास आदि में ही मान लिया है, जबकि धर्म का आधार दया और करुणा है और इसका व्यावहारिक रूप सेवा और सहानुभूति है। हम बाह्य तप--उपवास, व्रत, मासखमण (पूरे मास का

उपवास) और अन्य रूपों को अत्यधिक महत्त्व देते हैं जबकि आन्तरिक तप, सेवा या वैयावृत्य को इतना महत्त्व नहीं देते। यहाँ तक कि वैयावृत्य को साधु के दृष्टिकोण से केवल अपने गुरुजन और साधु-साध्वियों की सेवा को ही वैयावृत्य मान लिया है। इसी कारण गृहस्थ के लिये भी वैयावृत्य एक गौण वस्तु बनकर रह जाती है। समाज के वर्तमान व्यवहार से कोई ऐसी प्रेरणा नहीं मिलती कि कोई व्यक्ति सर्वजन हिताय, सर्व जन सुखाय सेवा में प्रवृत्त हो। यदि प्रवृत्ति थोड़ी बहुत देखी जाती है तो यह कि जो पैसे वाले है, वे अपनी करुणा जताने के लिये या कुछ नाम करने के लिये दान देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। समय का भोग और तन से सेवा बहुत कम व्यक्ति देते हैं। बड़े-बड़े अक्षरों में हर स्थान पर दानदाताओं के नाम दिखाई देते हैं, जबकि सेवा में कार्यरत व्यक्तियों के नाम कहीं भी नहीं दिखाई देते। इससे स्पष्ट है कि समाज में सेवा करने वालों की कोई प्रतिष्ठा नहीं है और उनका कोई सम्मान नहीं है। इसलिये न तो हमारे यहाँ पर सेवा की कोई परम्परा है और न ही समाजसेवी निष्ठावान व्यक्ति हमको मिल पाते है। समाज सेवा के लिये हम अपने नौजवानों को तैयार भी नही करते।

समाज सेवा के कई आयाम हैं। उनको व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये उन्हें संस्थागत रूप देना आवश्यक है तथा इस क्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों को समुचित प्रशिक्षण भी देना चाहिये। संस्थागत रूप होने से सेवा कार्य हेतु आवश्यक धन को जुटाने का कार्य भी हो सकता है। इससे सेवा कार्य को स्थायी रूप दिया जा सकता है। सेवा कार्य में प्रशिक्षण इसलिये आवश्यक है कि कार्यकर्ता अपने कर्तव्य व कार्यक्षेत्र को ठीक से समझ ले, उसको सेवा का दृष्टिकोण ज्ञात हो जाय तथा किस प्रकार सेव्य व्यक्तियों से व्यवहार किया जाय, इसमें यह दक्ष हो जाय। उदाहरणार्थ, अस्पताल में रोगी की [illegible] लें। इसमें

आने पर उचित सहायता की जा सके। समाजसेवी कार्यकर्ता को इस बात में भी प्रशिक्षित करना आवश्यक है कि वह सेव्य व्यक्ति से यह अपेक्षा न करे कि वह उपकृत अनुभव करे, बल्कि कार्यकर्ता को यह महसूस करना है कि सेवा लेकर उस व्यक्ति ने उस को उपकृत किया है। जब तक यह भावना कूट-कूट कर नहीं भरी जावेगी, सेवा दिखावे का एक साधन बन कर रह जावेगी।

समाजसेवी यदि हमें तैयार करने हैं तो केवल यह मानकर कि जो भी व्यक्ति आयेगा वह निःस्वार्थ और किसी भी प्रकार का पारिश्रमिक लिये बिना सेवा करेगा तो ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे। पहले ऐसी प्रणाली थी कि व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में आकर कुछ समाज सेवा करता था और अपने परिवार की चिन्ता अपने बच्चों पर छोड़कर कार्य करता था। वह प्रथा अब समाप्त हो गई है। बहुत ही कम व्यक्ति ऐसे हैं जो इसप्रकार से आकर कार्य करते है। अतः, यदि युवजनों से हमें समाजसेवी तैयार करने हैं तो उनको न केवल प्रशिक्षण ही देना है बल्कि उनके जीवनयापन का भी प्रबन्ध करना होगा और उनको यह सिखाना होगा कि वे किस प्रकार से कम से कम खर्चे में अपना जीवनयापन कर सकें। यदि वे दो साल, तीन साल या पाँच साल के लिये समाज सेवा करें तो यह उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होगा। ऐसा न माना जाय कि जो समाजसेवा में एक बार आगया है, वह हमेशा के लिये बँध गया। समाजसेवा उसको आगे के जीवन विकास में बाधक नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार के सेवाकार्य से उनको प्रगति मिले, इसके लिये भी समाज को प्रबन्ध करना चाहिये। जब हम इस प्रकार से समाज सेवा को संगठित करेंगे तो समाज में इस परम्परा और अनुकरण से कुछ ऐसे कार्यकर्ताओं का निर्माण होगा जो समाज सेवा में संलग्न होंगे और जब भी आवश्यकता होगी, हम अपने प्रशिक्षित व्यक्तियों को साथ लेकर समाजसेवा का कार्य सम्पादित कर सकेंगे।

□

कुछ न कुछ वस्तु उसे चाहिये। इसी चाह की पूर्ति की उधेड़बुन में वह जीवन भर रोता रहता है।

अब यह रोना केवल भूख, प्यास या कपड़ा-मकान का ही हो तो भी कोई बात है; परन्तु अब तो चाह और कई गुना बढ़ रही है। विकराल रूप भी लेती जा रही है। कोई अन्त नहीं है। धन चाहे करोड़ों का हो जावे तो भी चाह पूरी नहीं होती। नौकर-चाकर, धन-धान्य, हीरा-जवाहरात सब हाजिर हैं। हुकूमत व सल्तनत भी हाजिर है। बांदियां, गुलाम और हूर की परियां भी हाजिर हैं; परन्तु इन सबके बाद भी क्या रोना बन्द हो गया? अभी तो बहुत बाकी है। बस चाह का अन्त नहीं है।

अब मानव चाह को पूरी करने में जुटा है। झूठ, चोरी, कपट, हिंसा इन सबका उपयोग चाह को पूरी करने के लिये करता है। जब धन, जन, जमीन प्राप्त करने ही है तो सब उपाय आवश्यक हो ही जाते हैं। तब औचित्य की कसौटी की कोई आवश्यकता अनुभव नही की जाती। हिंसा, चोरी और झूठ की जब सहायता ली जाती है तो किसी अन्य का हक छीना ही जावेगा, हत्या की ही जावेगी और अपने सुख के लिये किसी और का चैन भी समाप्त किया ही जावेगा। होड़ यही होगी कि कौन संग्रह में अधिक कुशल और ताकतवर है और दूसरों से बटोर कर स्वय के खजाने में भरती कर सकता है। संग्रह की हविश में प्रियजन की हत्या, कपट के विभिन्न उपाय, चोरी, डकैती या अन्य कई जघन्य कृत्यों से इतिहास भरा पड़ा है और आज भी यही क्रम चल रहा है। संग्रह की प्रवृत्ति एक बार चल पड़ी तो उस प्रवृत्ति के पोषण के लिये वे सब कर्म होते हैं जो वर्जित है। संग्रह संघर्ष की जड़ है जो न केवल दूसरों का सुख-चैन छीनती है बल्कि स्वयं को भी अशान्त करती है। यही है परिग्रह, जिसके त्याग के लिये महावीर ने आवाज उठाई और कहा—परिग्रह पाप का मूल है और इसके त्याग में ही धर्म है।

संग्रह या परिग्रह पर आघात अन्य कई महात्माओं व पैगम्बरों ने भी किया है। ईसा मसीह ने कहा— 'सुई की नोक से ऊँट का निकलना संभव है परन्तु स्वर्ग के द्वार से धनी आदमी का निकलना संभव नहीं

है।' मोहम्मद साहब ने 'अपने धन का चालीसवां हिस्सा हर वर्ष जकात के रूप में देने' का फरमान किया था।

संग्रह या परिग्रह का सामाजिक व आर्थिक विश्लेषण जितना मार्मिक व यथार्थ ढंग से मार्क्स ने किया उतना किसी अन्य दार्शनिक ने नहीं किया। मार्क्स ने सारे इतिहास और विश्व के क्रिया-कलापों का आर्थिक दृष्टिकोण से विश्लेषण कर एक नया अर्थ दिया और बताया कि हम जो भी कार्य करते हैं या नीति की घोषणा करते हैं यह अपने निहित स्वार्थों के हितों की रक्षा के लिये करते हैं। राज्य जिसे हम अपने जीवन का आवश्यक अंग मानते हैं वह भी निहित स्वार्थों के हितों के लिये बनी संस्था है। धर्म और इसके उपदेश भी पैसे वालों के व शक्तिशाली वर्गों की रक्षा के लिये बने हैं और गरीबों के लिये अफीम का कार्य करते हैं, जिससे गरीब धर्म के नशे में रहें और विद्रोह न करें।

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को हम प्राकृतिक देन मानकर चलते है और समाज में जाति, वर्ग और विषमता को कर्मों का फल बताते हैं। परन्तु मार्क्स इस बात से सहमत नहीं है। प्रारम्भ में कुछ ऐसे सिद्धान्त चले थे कि 'राज्य करने के लिये भगवान ही किसी को राजा के रूप में जन्म देता है और वही राज्य करने के लिए अधिकृत होता है।' इन सिद्धान्तों से यही सिद्ध किया जाता था कि राज्य का राजा भगवान द्वारा निर्धारित है और उसकी आज्ञा का पालन करना जनता का कर्तव्य है। इस मान्यता के आधार पर राजा को प्राकृतिक साधनों को अपनी इच्छानुसार बांटने व उपयोग करने का एकाधिकार मिला। कुछ लोग जो राजा के नजदीक थे वे सभी सुविधाओं का उपभोग करते थे और शेष जनता उनकी सेवा या गुलामी करती थी। राजा के निर्देशन में शोषण होता था और उसका औचित्य दार्शनिक देते थे कि यह भगवान के फरमान के अनुरूप है।

धीरे-धीरे अर्थ व्यवस्था बदली। कृषि का स्थान उद्योग ने लिया और पूंजीपति ने राजा का स्थान लिया। अब जिसके पास उत्पादन के साधन अधिक होंगे वही और अधिक उत्पादन कर सकेगा, मजदूरों को रोजगार दे सकेगा और उन पर आर्थिक व सामाजिक

नियंत्रण कर सकेगा। पूंजीपति मजदूरों का शोषण करता है और अब अर्थ व्यवस्था व राज्य का नियंत्रण पूंजीपति करते है। राज्य का नया रूप बनता है। राजा का स्थान चुनी हुई संसद लेती है और चुने वे ही जाते हैं जिनको पूंजीपति का अनुमोदन या समर्थन होता है। मार्क्स का मत है कि सरकार अब पूंजीपतियों के इशारे पर चलती है और ऐसे नियम और कानून बनाती हैं जिससे पूंजीपति का पोषण हो, उसके हितों की सुरक्षा हो और उसे शोषण की पूरी छूट हो। कहने को यह राज्य प्रजातंत्र है, परन्तु यह ऊपरी दिखावा है। वास्तव में नियंत्रण उसी का है जो पूंजीपति या सरमायेदार है। जब तक उत्पादन के साधनों का नियंत्रण कुछ हाथों में है वे शेष जनता का शोषण करते ही रहेंगे। यही वर्ग-संघर्ष की जड़ है और समाज में संघर्ष और विद्रोह को पनपाता है।

जब राज्य सरमायेदारों के हाथ में है तो कानून भी उनका पक्ष करता है और थोड़ी सी मेहनत करने से संग्रह की चक्की आसानी से चल जाती है तो कौन मूर्ख होगा जो इस संग्रह की दौड़ में भाग नहीं लेगा! जन्म से ही वह देखेगा कि यह जीवन संग्रह की दौड़ है और जो जितना इस व्यवस्था को तोड़-मरोड़ कर फायदा उठाता है वह उतना ही धनी और इज्जतवाला बनता है। जिसको जरा भी मौका मिलता है वह मध्य वर्ग से उच्च-मध्यवर्ग की ओर दौड़ लगाता है। जिनके पास कोई साधन नही है वह मजदूरी करना ही अपना भाग्य समझता है। यही उसका धर्म है। जीवन भर जूझता रहता है दो जून की रोटी के लिये। समझ में उसके आता नही कि किस प्रकार वह अपना स्तर सुधारे। दार्शनिक और धर्म के नेता जब उसे यह उपदेश देते है कि जो कुछ आज हो रहा है वह पूर्व संचित कर्मों का फल है तो वह अपनी गरीबी को पूर्व जन्म का फल मानकर संतोष कर लेता है। उसके मन में यदि कभी धनी व्यक्ति पर रोष भी आया तो धर्म की वाणी सुनकर शांत हो गया। धर्म उसका यही रहा कि ईमानदारी से कमाई करे और जीवन भर मेहनत करे और वर्तमान जीवन में कष्ट भोगे; अपने पूर्व जन्मों के कुकर्मों का फल समझ कर। यदि अच्छा धनी, चक्रवर्ती जैसा जीवन

प्राप्त करना चाहता है तो इस जन्म में अच्छे कर्म करे जिससे अगला जन्म सुधरे। यदि यह धर्म की अफीम मिल गई कि अगला जन्म सुधारना है और उसके लिये इस जीवन में ईमानदारी व संतोष से रहना है तो फिर धनी वर्ग चैन से रह सकता है; क्योंकि निर्धन वर्ग तो अपने वर्तमान को अपना भाग्य मानकर संतोष कर रहा है। संतोष उसका सबसे बड़ा धन है और वह धन धनी लोगों के करोड़ों रुपयों से भी बड़ा है। दोनों वर्ग भाग्यशाली रहे–धनी वर्ग चैन से सो रहा है कि कोई विद्रोह करने वाला नहीं और उनकी आत्मा को भी संक्लेश नहीं क्योंकि जो धन उनके पास है, उनको विश्वास दिलाया गया है कि वह पूर्व कर्मों के फल से है और उनकी मान्यता है कि यदि गरीब दुःखी है तो उनके पूर्व-जन्म के कुकर्मों से। दूसरी ओर, गरीब वर्ग यह भ्रम पालकर सुखी है कि ईमानदारी के व संतोष के जीवन से उसने अगले जन्म के सुखों की बुकिंग कराली है और संतोष रूपी धन ही सर्वश्रेष्ठ धन है।

धर्म की इस अफीम के बावजूद भी यदि कुछ सिरफिरे ऐसे मिलें कि जो इस शोषण की प्रक्रिया को जान गये और गरीब वर्ग को भड़का कर आवाज उठाने की कोशिश करें तो राज्य का कानून और व्यवस्था ऐसी है जो उनको हमेशा दबाती रहेगी। कभी विद्रोह की आग को भड़कने ही नहीं देगी। इसके बावजूद भी कभी आग भड़की तो धनी वर्ग के पालतू गुण्डे और लठैत उनको दबा देंगे और कानून उन गुण्डों को कुछ नहीं कहेगा; क्योंकि साजिश हो गई है, मुट्ठी गरम हो गई है। रिश्वत ने वह सब काम कर दिया जो अब तक कानून नहीं कर पा रहा था। कानून का अर्थ निकालने और कानून को लागू करने वाले को रिश्वत के माध्यम से अपनी तरफ कर लिया और अब जो गरीब-वर्ग को दबाने की प्रक्रिया में समाज सुधारक कानून भी बाधक बने थे उनको निष्प्रभावित कर दिया गया।

मार्क्स का मानना है कि सब व्यवस्था, कानून, धर्म और अनेकानेक संस्थाएं; जैसे–अखबार, वकील, न्याय आदि सब धनी व प्रभावशाली वर्ग का समर्थन करने के लिये हैं। अतः इसका एकमात्र उपाय है कि संग्रह पर रोक लगाओ और कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता

से अधिक पाये ही नहीं। सब अपनी क्षमता के अनुसार समाज को दे और आवश्यकतानुसार ले। यह समाजवाद का आदर्शवादी सिद्धान्त मार्क्स ने दृष्टा के रूप में देखा, प्रतिपादित किया और कल्पना की कि एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें न शोषक होगा, न शोषित। और तब किसी राज्य या सरकार की भी आवश्यकता नहीं होगी। सब आदर्शवादी ढंग से रहेंगे और जब संग्रह किसी एक व्यक्ति या वर्ग के पास होगा ही नहीं तो संघर्ष भी नहीं होगा। यही सह-समाज के स्वरूप की चरम सीमा होगी।

कल्पना आदर्शवादी है और वास्तव में एक ऐसा आदर्श है जहा सब भौतिक व मानसिक रूप से सुखी रह सकते हैं। परन्तु ऐसे समाज की स्थापना का जो मार्ग सोचा या बताया वह कभी भी उस आदर्श तक नहीं पहुंचा सका। इस ओर मार्क्स ने कभी ध्यान नहीं दिया। उसने सोचा था कि पूंजीवादियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष होगा और एक दिन संगठित श्रमिक जीतेंगे व समाज से सारे उत्पादन के साधन समाज के अधीन कर लेंगे। जिस समाज का जन्म संघर्ष के मार्ग से होगा वहां से संघर्ष समाप्त कैसे हो सकता है? संघर्ष पुनः संघर्ष को ही जन्म देगा चाहे उसका रूप पलट जावे। यही हुआ। सोवियत संघ व चीन में संघर्ष से समाजवाद स्थापित किया, जबरदस्ती थोपा और लाखों व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये। आज भी सत्ता दल व अन्य दलों के मध्य संघर्ष है और नित्य-प्रति झगड़े इसी बात के होते हैं कि कौन सत्ता को हथियाये। मूल में प्रवृत्ति सत्ता व संग्रह की है और केवल जन-साधारण पर समाजवाद थोपा हुआ है। वे भी जब मौका लगता है अपनी संग्रहप्रवृत्ति को जाहिर करते हैं।

महावीर, गांधी और मार्क्स के आदर्श में कोई अन्तर नहीं है। तीनों का आदर्श है कि समाज को हम क्षमता के अनुसार दें और अपनी आवश्यकता के अनुसार लें। संग्रह न करें, बल्कि अपनी योग्यता या धन का लाभ दूसरों को दें। परन्तु, मार्क्स आदर्श स्थापित करने के बाद आदर्श को प्राप्त करने के तरीके पर ध्यान नही देता, जबकि महावीर और गांधी तरीके पर ही नही समाज के प्रमुख अंग मानव और उसके

प्राप्त करना चाहता है तो इस जन्म में अच्छे कर्म करे जिससे अगला जन्म सुधरे। यदि यह धर्म की अफीम मिल गई कि अगला जन्म सुधारना है और उसके लिये इस जीवन में ईमानदारी व संतोष से रहना है तो फिर धनी वर्ग चैन से रह सकता है; क्योंकि निर्धन वर्ग तो अपने वर्तमान को अपना भाग्य मानकर संतोष कर रहा है। संतोष उसका सबसे बड़ा धन है और वह धन धनी लोगों के करोड़ों रुपयों से भी बड़ा है। दोनों वर्ग भाग्यशाली रहे—धनी वर्ग चैन से सो रहा है कि कोई विद्रोह करने वाला नही और उनकी आत्मा को भी संक्लेश नहीं क्योंकि जो धन उनके पास है, उनको विश्वास दिलाया गया है कि वह पूर्व कर्मों के फल से है और उनकी मान्यता है कि यदि गरीब दुःखी हैं तो उनके पूर्व-जन्म के कुकर्मों से। दूसरी ओर, गरीब वर्ग यह भ्रम पालकर सुखी है कि ईमानदारी के व संतोष के जीवन से उसने अगले जन्म के सुखों की बुकिंग कराली है और संतोष रूपी धन ही सर्वश्रेष्ठ धन है।

धर्म की इस अफीम के बावजूद भी यदि कुछ सिरफिरे ऐसे मिलें कि जो इस शोषण की प्रक्रिया को जान गये और गरीब वर्ग को भड़का कर आवाज उठाने की कोशिश करें तो राज्य का कानून और व्यवस्था ऐसी है जो उनको हमेशा दबाती रहेगी। कभी विद्रोह की आग को भड़कने ही नहीं देगी। इसके बावजूद भी कभी आग भड़की तो धनी वर्ग के पालतू गुण्डे और लठैत उनको दबा देंगे और कानून उन गुण्डों को कुछ नहीं कहेगा; क्योंकि साजिश हो गई है, मुट्ठी गरम हो गई है। रिश्वत ने वह सब काम कर दिया जो अब तक कानून नही कर पा रहा था। कानून का अर्थ निकालने और कानून को लागू करने वाले को रिश्वत के माध्यम से अपनी तरफ कर लिया और अब जो गरीब-वर्ग को दबाने की प्रक्रिया में समाज सुधारक कानून भी बाधक बने थे उनको निष्प्रभावित कर दिया गया।

मार्क्स का मानना है कि सब व्यवस्था, कानून, धर्म और अनेकानेक संस्थाएं; जैसे—अखबार, वकील, न्याय आदि सब धनी व प्रभावशाली वर्ग का समर्थन करने के लिये हैं। अतः इसका एकमात्र उपाय है कि संग्रह पर रोक लगाओ और कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता

से अधिक पाये ही नहीं। सब अपनी क्षमता के अनुसार समाज को दे और आवश्यकतानुसार ले। यह समाजवाद का आदर्शवादी सिद्धान्त मार्क्स ने दृष्टा के रूप में देखा, प्रतिपादित किया और कल्पना की कि एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें न शोषक होगा, न शोषित। और तब किसी राज्य या सरकार की भी आवश्यकता नहीं होगी। सब आदर्शवादी ढंग से रहेंगे और जब संग्रह किसी एक व्यक्ति या वर्ग के पास होगा ही नहीं तो संघर्ष भी नहीं होगा। यही सह-समाज के स्वरूप की चरम सीमा होगी।

कल्पना आदर्शवादी है और वास्तव में एक ऐसा आदर्श है जहां सब भौतिक व मानसिक रूप से सुखी रह सकते हैं। परन्तु ऐसे समाज की स्थापना का जो मार्ग सोचा या बताया वह कभी भी उस आदर्श तक नहीं पहुंचा सका। इस ओर मार्क्स ने कभी ध्यान नहीं दिया। उसने सोचा था कि पूंजीवादियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष होगा और एक दिन संगठित श्रमिक जीतेंगे व समाज से सारे उत्पादन के साधन समाज के अधीन कर लेंगे। जिस समाज का जन्म संघर्ष के मार्ग से होगा वहां से संघर्ष समाप्त कैसे हो सकता है? संघर्ष पुनः संघर्ष को ही जन्म देगा चाहे उसका रूप पलट जावे। यही हुआ। सोवियत संघ व चीन में संघर्ष से समाजवाद स्थापित किया, जबरदस्ती थोपा और लाखों व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये। आज भी सत्ता दल व अन्य दलों के मध्य संघर्ष है और नित्य-प्रति झगड़े इसी बात के होते है कि कौन सत्ता को हथियाये। मूल में प्रवृत्ति सत्ता व संग्रह की है और केवल जन-साधारण पर समाजवाद थोपा हुआ है। वे भी जब मौका लगता है अपनी संग्रहप्रवृत्ति को जाहिर करते है।

महावीर, गांधी और मार्क्स के आदर्श में कोई अन्तर नहीं है। तीनों का आदर्श है कि समाज को हम क्षमता के अनुसार दें और अपनी आवश्यकता के अनुसार लें। संग्रह न करें, बल्कि अपनी योग्यता या धन का लाभ दूसरों को दें। परन्तु, मार्क्स आदर्श स्थापित करने के बाद आदर्श को प्राप्त करने के तरीके पर ध्यान नहीं देता, जबकि महावीर और गांधी तरीके पर ही नहीं समाज के प्रमुख अंग मानव और उसके

मनोविज्ञान पर भी ध्यान देते हैं। जब तक मानव स्वयं नहीं बदलेगा ऊपर से थोपा हुआ तंत्र अस्थायी रहेगा। मानव की प्रवृत्ति को बदले बिना स्थायी समाज का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

भगवान महावीर ने अपरिग्रह को इसीलिये अत्यधिक महत्त्व दिया और अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर परिग्रह पर सीमा लगाने का उपदेश दिया। साधु के लिये तो पूर्ण अपरिग्रह का उपदेश दिया परन्तु गृहस्थ के लिये सीमित अपरिग्रह का। महावीर ने इस बात पर जोर नहीं दिया कि सीमा कितनी हो, जोर इस बात पर दिया कि सीमा अवश्य बांधें। सीमा के उपरान्त जो भी आवे वह समाज को अर्पण करें।

यह कितना मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। यदि भगवान महावीर अमुक सीमा बांधते तो आने वाले शिष्य या अनुयायी उस सीमा के औचित्य पर विवाद करते। परन्तु सीमा जब गृहस्थ स्वयं अपनी इच्छा से बांध रहा है तो विवाद कैसा? जोर इस बात पर नहीं कि सीमा कितनी हो; जोर इस बात पर है कि सीमा अवश्य हो। आवश्यकता है मनोवृत्ति में परिवर्तन की। व्यक्ति की इच्छा अनन्त है और इच्छा पूर्ण करने की सीमा नहीं। परन्तु महावीर ने कहा—इस इच्छा पर ही सीमा लगाओ और चाहे वह सीमा काफी दूर है इसकी परवाह न करो; परन्तु सीमा अवश्य लगाओ। एक बार सीमा लगी कि प्रवृत्ति में मोड़ आयेगा। संग्रह की मनोवृत्ति बदलेगी और इसका उपयोग समाज के लिये होने लगेगा।

गांधीजी का 'ट्रस्टीशिप' सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है। जितनी आवश्यकता है उतना रखो व शेष को समाज का 'ट्रस्टी' बनकर समाज के लिये उपयोग में लाओ। ट्रस्टी होने के नाते सारे धन को अमानत मानकर रखो। यह भी मनोवैज्ञानिक रूप से धन के प्रति मूर्च्छा छुड़ाने में सहायक है। मूर्च्छा ही तो परिग्रह है। जब धन को अमानत माना तो धन से मूर्च्छा हटेगी। जब तक धन अपना माना तब तक मूर्च्छा रहेगी। महावीर ने मूर्च्छा को ही परिग्रह की संज्ञा दी। परिग्रह छोड़ने के लिये सीमा करने का निर्देश किया। जब सीमा का

पालन करेगा, सीमा से अतिरिक्त धन का दान करेगा तो जो सीमा के भीतर धन है उस पर से भी मोह हटेगा। सीमा के भीतर या बाहर के धन, दोनों पर छाप एक-सी है, अतः मोह का खण्डन हुआ। एक बार मोह टूटा कि जैसे किला टूटता है वैसे मोह का विसर्जन होने लगता है। जब तक देने की बजाय लेने में प्रवृत्ति है तब तक घोर परिग्रह में व्यक्ति घूमता है। परन्तु, एक बार लेने के साथ देने लगता है तो उसका मोह खण्डित होने लगता है, लेना छूटता है और देने में प्रवृत्ति बनती है।

एक व्यक्ति या एक वर्ग के व्यक्तियों द्वारा अपरिग्रह करने से समाज में परिवर्तन नहीं आ सकता। यह सामूहिक आवश्यकता है। सबकी प्रवृत्ति में परिवर्तन आवश्यक है। यह प्रवृत्ति पहले राजा से चले और जन-जन तक पहुचे तो सही समाजवादी समाज का निर्माण हो सकता है। राज्य में उच्चस्थ व्यक्ति चाहे वह मंत्री हो या अधिकारी सब इस नियम का पालन करें तो समाज की संग्रहवादी प्रवृत्ति बदल कर अपरिग्रहवादी हो सकती है। लेकिन उच्चस्थ व्यक्ति तो धन का संग्रह करे और जन-जन को अपरिग्रह का उपदेश दे तो समाज का अपरिग्रह के सिद्धान्त पर निर्माण असंभव है।

आज की आवश्यकता है समाज के नव निर्माण की, अपरिग्रह के आधार पर समाज का निर्माण हो। आज जो होड़ लगी है, संग्रह और व्यक्तिगत मौज-मस्ती की, उसे समाप्त कर धन-संग्रह की प्रवृत्ति सीमित करने और आवश्यकताओं को सीमित करने पर बल देना होगा। तभी यह समाज सुखी समाज बन सकेगा अन्यथा पश्चिमी देशों के सब दुःख व बीमारियां हम अपने यहां आयात कर लेंगे और तब भारतीय संस्कृति का नाश तो हो ही चुका होगा, हम सब अपने विनाश की भी तैयारी कर चुके होंगे। भारतीय संस्कृति की रक्षा में ही हम सब की रक्षा निहित है। इसका एकमात्र आधार है—अपरिग्रह। हम सब संग्रह का रोना बन्द करें और जो है उसका सदुपयोग कर अपने साथियों और समाज के अन्य व्यक्तियों पर ध्यान दें और सब समानता व सरसता का जीवन जोतें तो सुखी समाज का निर्माण कर सकते हैं। □

स्वाध्याय

स्वाध्याय का अर्थ दो रूपों में किया जाता है—

१. ज्ञानार्जन—पुस्तकों का अध्ययन, विवेचन आदि।

२. साधना—'स्व' का अध्ययन।

उपयोगी पुस्तकों का अध्ययन स्वाध्याय है। इसे सु+अध्याय भी कह सकते है। हम अपना समय बातो और आलस मे बिता देते है। उपयोगी पुस्तकों के अध्ययन से जगत की, धर्म की और आत्मा की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। धर्म और दर्शन का इतना साहित्य मौजूद है कि व्यक्ति एक जन्म तो क्या, कई जन्मों मे भी इसे पूर्ण रूप से आत्मसात् नहीं कर सकता। सतत अध्ययन से ही हम अपने ज्ञान-भण्डार को खोलकर बहुमूल्य निधि प्राप्त कर सकते हैं।

हम अपने विद्याध्ययन काल में पाठ्यक्रम की किताबों का ही अध्ययन करते हैं और इसके बाद हमारा अध्ययन समाप्त ही हो जाता

है। धर्म सम्बन्धी एवं दर्शन सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन करने का अवसर ही नहीं आता। जब तक प्रेरणा न मिले और पुस्तक पढने का अभ्यास ही न डाला जाय, अच्छी पुस्तकों का अध्ययन हो ही नही पाता।

शास्त्रों में कितनी जानकारी भरी पड़ी है, हम बहुत कम जानते हैं। इनका अध्ययन किये बिना हम अपने धर्म के मर्म को सही रूप से हीं जान पायेंगे। यही कारण है कि बहुत सी बातें रूढ़ियों के रूप में चल रही हैं। हमारे हाथ में आज धर्म का कलेवर है, प्राण नहीं।

अध्ययन के लिए समय निश्चित करना और पुस्तकों को एकत्र करना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चों से लेकर बड़ों तक सबको कुछ समय अध्ययन के लिए निश्चित कर लेना चाहिये। सामायिक या पूजा में भी अध्ययन को महत्त्व देना चाहिये। पुस्तकों की उपलब्धि के लिये प्रत्येक स्थानक या मन्दिर या मस्जिद में पुस्तकालय का प्रबन्ध होना चाहिये। इसके लिए चल पुस्तकालय भी हों तो उपयुक्त रहेगा। जैसे जयपुर में केवल दो रुपया प्रति मास लेकर एक सज्जन घर-घर अच्छी पुस्तकें पहुंचाते हैं। रुचिकर हों तो बच्चे इस बात की इन्तजार में रहते हैं कि पुस्तक देने वाले कब आवेंगे ?

पुस्तकों के प्रबन्ध और इसके अध्ययन के पश्चात् गोष्ठी एवं चर्चा भी अत्यन्त आवश्यक है। इससे सन्देह हट जाते हैं और जो पढ़ा है वह और अधिक स्पष्ट हो जाता है। अतः गोष्ठी-मण्डल या चर्चा-मण्डल हों तो पुस्तक के अध्ययन में रुचि और बढ़ जाती है।

स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है–'स्व' का अध्ययन करना, अपने आपको जानना। यह धर्म का मूल ही नहीं जीवन का अन्तिम उद्देश्य भी है। जिसने अपने आपको जान लिया, उसने सब कुछ पा लिया और उसके लिये जानने को कुछ बचा ही नहीं। भगवान् महावीर ने कहा है– 'एगे जाणा सो सव्वे जाणा'–जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। अरस्तू ने भी कहा था–'अपने आपको जानो' (Know thyself)। हम बाहर की सब बातें जानते है या जानने की कोशिश करते हैं। चांद, पृथ्वी, ग्रह, तारे आदि सबको खोजते हैं, परन्तु अपने

आपको नहीं खोजते। जिन्होंने अपने आपको खोजा, वे ही धर्म-प्रकाशक हुए हैं।

'स्व' का अध्ययन हमें अपने आपके प्रति जागरूक बनाता है। हम न केवल अपने कार्यकलापों के प्रति जागरूक बनते हैं वरन् मन की विचारधाराओं के प्रति भी जागरूक बनते हैं। जब मन की विचार-धाराओं के प्रति जागृति आती है, तब संयम जीवन में स्वतः उतरता है। भगवान् ने जीवन के दुःख का मूल कारण प्रमाद बताया है। प्रमाद का अर्थ विस्मृति या जागृत न होना है। जब हम अपने कार्यकलाप और विचार को विस्मृति में चलने देते है और इनके प्रति जागरुक नहीं होते तो राग और द्वेष की प्रवृत्ति में ही रहते हैं और इसी प्रमाद से दुःख का अनुभव करते है। परन्तु, जैसे-जैसे हम जागृति लाते है जीवन में प्रज्ञा आने लगती है। प्रज्ञा वह ज्ञान है जिसे पुस्तक से पढकर या किसी से सुनकर प्राप्त नहीं किया है बल्कि वह अनुभूत ज्ञान है जो जीवन, दर्शन और व्यवहार से आत्मसात किया है। प्रज्ञा अन्दर से आती है और जानकारी बाहर से। जो अन्दर से आती है वह जीवन-व्यवहार को बदलती है। बाहर की जानकारी भी बहुत उपयोगी है यदि उसे ग्रहण कर उससे आन्तरिक परिवर्तन किये जावे। अतः पुस्तक से प्राप्त ज्ञान और 'स्व' के अध्ययन से प्राप्त प्रज्ञा एक दूसरे के पूरक है।

स्वाध्याय हमारे जीवन का अंग बने और हमारा जीवन उद्दीप्त हो, इसके लिये निम्न सुझाव प्रस्तुत है :—

१. पुस्तकें पढ़ने का नियम प्रत्येक साधक ले।
२. अच्छी पुस्तकें मिलें, इसके लिये सुव्यवस्थित पुस्तकालयों का प्रबन्ध हो। पुस्तकालय ऐसे हों जहां पुस्तकें नियमित रूप से पढ़ने को दी जावें। पुस्तकें ताले में बन्द करने के लिये न हों।
३. चल पुस्तकालयों का आयोजन हो।
४. चर्चा-मण्डल व गोष्ठी-मंडलों का गठन हो। जहां सप्ताह या मास में धर्म-चर्चा हो।

५. बच्चों के लिये रुचिकर पुस्तकों की उपलब्धि कराई जावे।

६. पुस्तक-अध्ययन के साथ 'स्व' का अध्ययन करने हेतु ध्यान की पद्धति में प्रशिक्षण प्राप्त करना भी आवश्यक है जिससे स्वाध्यायी अपने आपको देखना सीख सके।

७. स्वाध्यायी व्यक्तियों को सम्मान देना अत्यन्त आवश्यक है। इससे समाज के मूल्यों में अन्तर आवेगा और धनी को बजाय स्वाध्यायी को सम्मान मिलने लगेगा।

८. विभिन्न स्वाध्याय संघों के कार्यकलापों में सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है जिससे अधिक क्षेत्रों को लाभ मिल सके, टकराव न हो तथा स्वाध्यायियों के लिये सुनियोजित प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये जा सकें।

९. स्वाध्याय के लिए आधुनिक रुचिकर पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण हो तथा पुराने पाठ्यक्रम को बदलकर नई परीक्षा-पद्धति के आधार पर स्वाध्यायियों की परीक्षा ली जावे।

१०. अच्छे विद्वानों को तैयार किया जाय जो अपने देश मे ही नहीं विदेशों में भी जाकर धर्म प्रचार कर सकें। इसके लिये धन व संगठन दोनों की आवश्यकता है।

इन सुझावों पर अमल करने से समाज में रूढ़ि के स्थान पर ज्ञान को विशेष महत्त्व मिलेगा और हमारी धर्म-साधना सफल एवं जीवनोत्थान करने वाली होगी।



मन की शुद्धि : विपश्यना

शरीर या कपड़ा जरा भी मैला हो जाय, हम तत्काल उसे पानी या साबुन का प्रयोग कर साफ कर देते हैं। जो साफ वातावरण में रहने के अभ्यस्त हो गये हैं उनको जरा भी गंदगी नहीं सुहाती। परन्तु क्या हम यही बात मन की गन्दगी पर लागू करते है? क्या मन मैला होते ही सफाई की व्यवस्था करते हैं? क्या हम साफ मन रखने के अभ्यस्त हो गये है या मन के मैला होने का पता ही नही लगता? यदि पता लग भी जाता है तो क्या सफाई का कोई साधन उपलब्ध है?

शरीर की ऊपरी सफाई का ध्यान भी तभी आता है, जब हम सफाई के वातावरण में रहने के अभ्यस्त हो गये हों। जो लोग बालपन से गंदगी में ही रहते हैं या रोज स्नान आदि के अभ्यस्त नही होते उनको गंदगी या मैल का आभास उतना जल्दी नहीं होता जितना सफाई में रहने वाले व्यक्ति को होता है। गंदी गली व गंदे माहौल में

रहने वाले व्यक्ति को गली की गंदगी का अहसास इतना जल्दी नही होता जितना एक साफ बस्ती से आने वाले व्यक्ति को उस गंदी गली का होता है।

यही बात मन की गन्दगी पर लागू होती है। जब तक स्वस्थ व साफ मन क्या है इसका अहसास न हो, मन गन्दा कब हुआ और कब साफ करने की आवश्यकता है, इसका अहसास भी जल्दी नही होगा। लेकिन जो व्यक्ति एक बार साफ मन की स्फुरणा व सुख से परिचित हो जायेगा वह मन को साफ रखने की आवश्यकता स्वतः को महसूस करेगा।

आज के वातावरण में बाहरी सफाई पर तो काफी जोर दिया जाने लगा है परन्तु आन्तरिक या आध्यात्मिक सफाई पर लोग पहले से अधिक गफलत में रहने लगे है। मन की सफाई की कोई बात ही नहीं करता। मन की समस्या तब प्रस्तुत होती है जब यह काफी विकृत होकर शरीर पर बीमारी के रूप में प्रकट होती है या मनोवैज्ञानिक समस्या बनकर पागलपन की पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है। यह सब विकृति के उग्र रूप हैं। इस सीमा तक पहुँचने से पहले ही मन को स्वस्थ रखने की व्यवस्था होनी चाहिए।

इससे पहले कि मन की सफाई की बात करें, प्रश्न यह उठता है कि मन मैला कैसे होता है? और मन मैला होने का पता कैसे लगता है? व्यक्ति यदि बाहरी वातावरण से नजर हटाकर क्षण भर भी अन्दर झाँकेगा तो उसे इन प्रश्नों का उत्तर आसानी से मिल जायेगा। परन्तु, यदि आदत केवल बाहर देखने की बना ली और अन्दर झाँकने का प्रयास ही नहीं किया तो इन प्रश्नों का उत्तर नही मिलेगा। बाहर की गन्दगी तो दूसरे व्यक्ति भी इंगित कर देंगे परन्तु मन की गन्दगी का पता तो स्वयं ही लगाना होगा। स्वयं ही मन के मैलेपन को झाँकेंगे और स्वयं ही सफाई कर सकेंगे।

स्थूल रूप से भी देखें तो मन की व्याकुलता ही मन के विकार या गन्दगी का लक्षण है। मन में विकार आता है तो मन व्याकुल होता है। मन में क्रोध आया तो मन व्याकुल होगा। क्रोध का असर शरीर

पर भी होता है--धड़कन बढ़ती है, रक्तदाब बढ़ता है, स्पन्दन बढ़ता है आदि। क्रोध से शरीर व मन दोनों पर व्याकुलता का प्रसर होता है। इसी तरह जब मन कपट करता है या लालच करता है तो मन में व्याकुलता आती है। परन्तु, कई बार हम इन लक्षणों को दरगुजर करते है, लापरवाही बरतते हैं व मन की व्याकुलता व मन के विचारों को दबाते है। धीरे-धीरे मन की सूक्ष्म स्फुरणाओं को पहचानना भूल जाते हैं। फिर तो स्थूल बीमारी के रूप में जब लक्षण प्रकट होते हैं तब पता लगता है कि मन भी बीमार है। लेकिन उस वक्त भी मन की बजाय शरीर का ही इलाज करते हैं। जब ऊपरी दवाइयाँ कुछ नहीं कर पाती तब शायद मन को स्वस्थ करने की बात सोचने का अवसर आता है।

कहने में आता है—'मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ है'; परन्तु इस उक्ति पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। बल्कि इससे उल्टी उक्ति पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है—"स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन बसता है।' इसीलिए शरीर पर विशेष ध्यान देते हैं, मन पर नहीं। मन में उठने वाले विचारों व स्फुरणाओं की ओर ध्यान न देकर शरीर को जो प्यारा लगता है उस पर ध्यान देते हैं। शरीर की इन्द्रियों को जो चीज अच्छी लगती है, उसे प्राप्त करते या संजोने में सारी शक्ति लगा दी जाती है। इसके लिये क्रोध, छल-कपट भी करना पड़े तो करते हैं और इससे मन में विपरीत विचार या व्याकुलता भी आती है तो उसकी अवमानना करते है। जो शरीर को या शरीर की इन्द्रियों को प्रिय है उसी पर विशेष ध्यान देते हैं। शरीर की इन्द्रियों के सुखानुभव की प्राप्ति में मन की अवहेलना करने से मन व्याकुल या बीमार रहने लगता है और बाद में मन की व्याकुलता शरीर को बीमार करती है।

उदाहरण के लिये, किसी मनुष्य ने सुन्दर स्त्री को देखा और उसमें मुग्ध हो गया। आंखों के इस सुख को पाने के लिये पुनः पुनः प्रयास करता है। इसी को आगे प्राप्त करने के लिये स्त्री को अपने पास लाने की कोशिश करता है। उस वक्त यदि पता भी लगे कि पराई नार है तो सामाजिक क्लेश या झगड़े की परवाह भी नहीं करता और इसके

लिये लड़ने आदि का भी संकल्प कर लेता है। बड़े-बड़े युद्ध भी स्त्री के पीछे हो गये हैं। यह सब क्यों? केवल शरीर के इन्द्रिय सुख के पीछे। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिसमें कानों के सुख या जीभ के स्वाद के लिये अच्छे और बुरे की सब सीमा छोड़ कर छल, कपट, हिंसा का उपयोग किया गया है।

धन-संग्रह तो सबसे बड़ी बीमारी है। मनुष्य के दिमाग में यह बात बैठ जाती है कि धन-संग्रह ही जीवन का लक्ष्य है, धन ही सब कुछ है। इसी के लिये मिलावट, गलत तोल, छल-कपट, हिंसा, रिश्वतखोरी, तस्करी, सब कुछ करता है। पिता का धन जल्दी प्राप्त हो इसके लिये पुत्र पिता की हत्या भी कर देता है। भाई-भाई में झगड़े हो जाते हैं और एक-दूसरे के जानी दुश्मन हो जाते है। ये सब इसी भ्रम में कि धन ही सब कुछ है और इसके लिये ही सब प्रयास करने चाहियें। यह सब करते हुए प्रथम बार जब व्यक्ति अच्छे और बुरे में न्याय करता है तब मन में प्रश्न उठते है और मन की आवाज उठती है कि यह उचित नहीं। पर शीघ्र ही इस आवाज को दबा दिया जाता है और उचित-अनुचित के बीच न्याय करने की क्षमता ही समाप्त हो जाती है। फिर, केवल अपना लक्ष्य सामने होता है और उपाय के औचित्य-अनौचित्य पर ध्यान देना ही बन्द हो जाता है। इससे मन की स्फुरणा पर क्या असर पड़ा; इसका चिन्तन ही बन्द हो जाता है। मन पर क्या-क्या गन्दगी की परतें बढ़ती जा रही हैं इस पर ध्यान नहीं दिया जाता। सारा ध्यान बाहर है, अन्दर झाँकने का प्रयास ही नही है।

मन की गन्दगी तो मन में झाँकने से ही दूर होगी। किन्तु जो व्यक्ति इतना बहिर्मुख हो गया है वह तत्काल अन्तर्मुखी भी कैसे बन सकता है? अन्तर्मुखी बनने के लिये भी प्रशिक्षण लेना पड़ेगा।

भजन-पूजन

कुछ व्यक्ति नियम से भजन, उपासना आदि करते हैं। इसमें भी जब तक अन्तर्मुखी होने की कला नही आती, यह ऊपरी और बाहरी स्तर की ही क्रिया होती है। इससे मन को कुछ देर सन्तोष मिल सकता है परन्तु वास्तविक रूप से मन की गन्दगी दूर हो, ऐसा प्रायः नहीं होता।

प्रतिक्रमण

जैन विधि में प्रतिक्रमण की प्रक्रिया है जो प्रत्येक श्रावक व साधु को प्रतिदिन करनी आवश्यक है। यह प्रतिक्रमण स्वयं पर नजर डालने की प्रक्रिया है और व्यवहार व चिंतन में जो भी गलत कार्य हुए हों उनकी समीक्षा कर उन पर प्रायश्चित्त करना होता है। दिन भर या रात भर के कार्यों की क्रमशः सायं व प्रातः समीक्षा करने में आसानी यह होती है कि जो भी कार्य उस दिन या रात में हुए हैं उनकी याद ताजा होती है और ठीक से समीक्षा होती है। उसके औचित्य पर ऊहापोह होगी तो गलत कार्यों से कदम पीछे हटेगा और सही कार्यों पर आगे बढ़ेगा। यह क्रिया मन के विचारों को पुष्ट करती है और शुद्ध मन ही शरीर के कार्यों का निर्देशक बनता है। यदि समीक्षा नहीं होती है तो शरीर-सुख की प्राप्ति के विचार मन पर हावी होकर अशुद्ध मन ही शरीर के कार्यों का निर्देशक बन जाता है।

जब नियमित समीक्षा नहीं होती हो तो कार्यों की समीक्षा करते वक्त बहुत सी बातें याद नहीं आतीं। छोटी-छोटी बातें स्मृति से दूर हो जाती हैं और केवल मोटी-मोटी बातों की समीक्षा होती है। इससे मन स्थूल बनता है और मन की सूक्ष्म प्रेरणाओं को जान नहीं पाता। अतः प्रतिदिन प्रातः व सायंकाल प्रतिक्रमण करना आवश्यक बताया है।

प्रतिक्रमण एकान्त में बैठकर बिना किसी शब्दजाल में फँसे शुद्ध मन से किया जाय और मन की गहराइयों तक पहुँचा जाय तो अवश्य लाभप्रद होता है; परन्तु परिपाटी से प्रतिक्रमण करना एक कर्मकाण्ड भर रह जाता है। मन की गहराई तक पहुँचने का साधन नहीं बन पाता, अतः मन की सफाई ऊपरी तौर पर ही हो पाती है।

चेतन व अवचेतन मन

मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि चेतन मन पूरे मन का एक छोटा-सा अंश है। मन का अधिकांश हिस्सा तो अवचेतन है और इस हिस्से का हमें ज्ञान भी नही होता। अधिकांश क्रियाएँ अवचेतन मन के आदेश से होती हैं। मच्छर को हटाने का प्रयास करते हैं तब अवचेतन मन के

आधार पर ही क्रिया होती है। चेतन मन को तो पता ही नहीं कि कब हाथ उठा और दु:खद संवेदना को दूर करने लगा। अवचेतन मन में हमारे वर्षो के संस्कार भरे पड़े हैं और कई इच्छाएँ दवी पड़ी है। जब मौका लगता है तब पुराने सस्कार या दबी इच्छाएँ उठती हैं और व्यक्ति को अनायास इतना मजबूर कर देती हैं कि चेतन मन को सोचने या निर्णय लेने का वक्त ही नहीं देतीं। अतः मन का ऑपरेशन तो अवचेतन मन के स्तर पर होना चाहिये। चेतन मन तक सीमित रहने से लाभ नहीं।

चेतन मन या बुद्धि व तर्क के आधार पर हम उचित या अनुचित का निर्णय ले भी लें तो कोई फर्क नहीं पड़ता। मन के भीतरी सस्कार व निर्णय भारी पड़ते हैं और उनमें जब तक परिवर्तन नही होता, मनुष्य का आचरण नहीं बदलता। यही कारण है कि केवल उपदेश देने से लोगों का आचरण नही वदलता। मन में जब तक बात नहीं जमती, व्यक्ति उसे आचरण में नहीं लाता। मन की गहराइयों तक पहुँचने के लिये कोई नया रास्ता ढूँढ़ना ही होगा।

विपश्यना

इस ध्यान-पद्धति से मन की गहराइयों तक पहुँचने में किसी शब्द, रूप, इष्ट आदि का उपयोग नहीं होता। इसमें केवल शुद्ध श्वास के आधार पर कार्य होता है। शरीर पर जो संवेदना होती है उसे जानने और केवल जानने की प्रक्रिया होती है। किसी भी सवेदना को न अच्छा मानते हैं और न ही बुरा। जब कोई सवेदना अच्छी या बुरी नहीं तो उस सवेदना को रोकने या हटाने की बात नहीं होती। संवेदना शरीर पर उत्पन्न हो रही है, यह शरीर का धर्म है। हम केवल उस प्रक्रिया को देख रहे हैं। हम उसमें कुछ कर नही रहे। हम उस पर कुछ थोप नही रहे। केवल तटस्थ भाव से जो हो रहा है वही देख रहे हैं। जब आँख बंद कर शरीर को स्थिर कर सिर की चोटी से एड़ी तक यही क्रिया कर रहे हैं तो तटस्थ भाव पुष्ट होता है, मन का स्वभाव वदलता है। अब तक मन का स्वभाव था अच्छी वस्तु को चाहना और खराब वस्तु को हटाना। अच्छी संवेदना आयी तो खुश होकर उसी संवेदना को पुनः-

पुनः प्राप्त करने की कोशिश करना, बुरी आयी तो हटाने की कोशिश करना; परन्तु अब मन दोनों के बीच तटस्थ हो गया और भोक्ता-भाव की बजाय द्रष्टा-भाव आने लगा। दूसरा मूल परिवर्तन यह हुआ कि अब तक शरीर उन संवेदनाओं को देखता और चाहता था जो इन्द्रिय-जनित थीं—जैसे अच्छा रूप, शब्द, स्पर्श आदि। अब संवेदना वह देखी जा रही है जो मूलतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है। शरीर के अन्दर की धड़कन या फड़कन, दबाव या भारीपन, खुजलाहट या सुरसुराहट, यह सब बन्द आंख से मन के जरिये जानी जाती हैं। मन के केन्द्रित होने पर मन के भागने और बहिर्मुखी होने का जो स्वभाव है उस पर भी रोक लगती है। इस तरह धीरे-धीरे मन की गहराई तक पहुंचते हैं और मन के संस्कार स्वतः शरीर पर संवेदना के रूप में आने लगते हैं और संवेदना के रूप में ही निकल भी जाते हैं।

अब हम मन को देखने लगे। मन की स्फुरणाओं को जानने लगे। बुद्धि के स्तर पर नहीं, अनुभव के स्तर पर जानने लगे। अब हम स्वयं अनुभव करने लगे कि जब-जब क्रोध करते हैं मन व्याकुल होता है और शरीर पर अप्रिय संवेदना होती है। जब जब अच्छा कार्य करते हैं या अच्छे विचार आते हैं, अच्छी संवेदना होती है और मन सुख महसूस करता है। संवेदना पैदा नहीं की जाती, अपने आप होती है। मन केवल देखता है। व्यक्ति जब यह बात अनुभव के स्तर पर देख लेता है तो फिर मन को व्याकुल करने का काम क्यों करेगा? फिर वह वही कार्य करेगा जो मन को शांत करे या सुखी करे। स्वतः ही आचरण में परिवर्तन आयेगा। अब उपदेश का जरूरत नहीं; क्योंकि वह स्वयं देख रहा है कि क्या उचित है और क्या अनुचित है। अब वह स्वयं निर्णायक है और जो भी निर्णय करेगा अच्छा ही करेगा। यही मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन का मार्ग है। अन्तर में परिवर्तन होने पर बाहर का परिवर्तन स्थायी होता है। जब यह प्रक्रिया केवल बाहरी होती है तो या तो वह अस्थायी होती है या केवल ऊपरी तौर की सजावट।

जब मन साफ करने का साधन मिल गया तो उसका उपयोग कब-कब करें? उत्तर स्पष्ट है, जैसे शरीर को सवेरे-शाम दोनों वक्त

साफ करते हैं वैसे ही मन को दोनों वक्त साफ करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जब भी गन्दगी आ जावे तब शरीर की विशेष सफाई भी करते हैं, वैसे ही मन का जब कोई विशेष विकार जागे, उसी वक्त मन की सफाई आवश्यक है। मन में क्रोध जागा तो उसी वक्त उसको देखना शुरू कर दें—क्रोध गायब और मन भी साफ। इसके लिये वक्त की कोई पाबन्दी नहीं। जब भी विकार आया तत्क्षण सफाई आवश्यक है। गन्दगी का ढेर इकट्ठा हो जावे तो उसे साफ करने में भी उतनी ही कठिनाई आती है। जैसे-जैसे गन्दगी का ध्यान आवे वैसे-वैसे हटाते चलें तो नया ढ़ेर आना बन्द होगा और पुरानी सफाई होने लगेगी। यदि नयी गन्दगी ज्यादा आ रही है और साफ नही हो रही है तो पुरानी गन्दगी की सफाई का मौका ही नही मिलेगा। अतः, नयी गन्दगी बन्द करें, अर्थात रोक लगाएं और पुराने की सफाई करें तो मन निर्मल होता जायेगा। मन स्वभाव में फिर से आयेगा और स्वभाव में रमण ही धर्म है। स्वभाव में रहने से ही मन व तन दोनों स्वस्थ रहेंगे। 'स्व' में स्थित होना ही, स्वस्थ होना है।

आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयनका एवं उनके सहायक आचार्यों के मार्गदर्शन में विपश्यना शिविरों का आयोजन किया जाता है। दस-दस दिनों के इन शिविरों में सम्मिलित होना विपश्यना-पद्धति सीखने की दृष्टि से लाभदायक होगा। ये शिविर समय-समय पर इगतपुरी (महाराष्ट्र), जयपुर, हैदराबाद व अन्य स्थानों पर लगते हैं।

विपश्यना शिविर के दस दिनों में पूर्णतया शील का पालन करना होता है, अर्थात् सादा निरामिष भोजन लेना होता है, सादगी से रहना होता है तथा मादक द्व्यों से दूर रहना होता है। इसके अतिरिक्त दसों ही दिन पूर्णतया मौन रहना आवश्यक है और किसी भी परिजन या दफ्तर या व्यवसाय के सम्बन्ध में सम्पर्क या चिन्तन नही किया जाता। नियमित मौन, ध्यान और योग साधना के प्रत्येक दिन का अनुशासन अहर्निश चलता है। प्रतिदिन प्रातः 4 बजे से रात्रि 9 बजे तक शिशिर में 10 दिनों का प्रशिक्षण लेने से विपश्यना की अनेक बातें पकड़ में आ जाती हैं तथा नियमित रूप से विपश्यना करने से अन्दर की

गहराईयों तक पहुँचने में सफलता मिलती है। जीवन के सही स्वरूप की पहचान होने के साथ-साथ आन्तरिक परिवर्तन घटित होने लगता है।

एक बार प्रक्रिया सीख लें फिर स्वयं ही इसका प्रयोग करें तो मन-शुद्धि का सीधा व सरल उपाय हाथ लगेगा, इसमें कोई शंका नहीं है। इसमें किसी संप्रदाय में अपने आप को परिवर्तित करने की आवश्यकता नहीं, यह प्रक्रिया सम्प्रदाय-निरपेक्ष है। समय रहते समय निकालें और इसका रसास्वादन करें। इसी में सबकी स्वस्ति, मुक्ति और मंगल निहित है।



मन की साधना : प्राण साधना

हम चाहते कुछ हैं और मिलता कुछ है। चाहते सब सुख हैं परन्तु मिलता है दुःख। चाहते हैं आगे बढ़ना पर रह जाते हैं सबसे पीछे। जब कोई उत्तर नहीं मिलता तो किसी व्यक्ति, परस्थिति या फिर पूर्व-जन्म के कर्म या तकदीर, इनमें से किसी को जिम्मेदार बताकर अपनी खोज की इतिश्री कर देते हैं। वास्तव में चाहने और पाने के बीच की खाई के प्रति व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है और उसे इसकी पूरी खोज करनी चाहिए।

वास्तव में जो कुछ हम बनना या बिगड़ना चाहते है वह सब कुछ हमारे हाथ में है। हम पहले लक्ष्य तय करें और उसके लिए समुचित साधन व ताकत जुटाएं तो कोई कार्य ऐसा नहीं जो मनुष्य नहीं कर सकता। इतिहास में उदाहरण भरे पड़े है जिनमें असंभव समझे जाने वाले कार्यों को मनुष्य ने पूरा किया। चाहिए लक्ष्य की

निश्चितता और उसके पीछे मन व शरीर की पूरी ताकत। मन की ताकत बहुत बड़ी है। कभी हमने इसे पहचाना नहीं। मन को एकाग्र कर जादू, मेस्मरिज़्म, हिप्नोटिज्म आदि छोटे-मोटे खेल तो होते ही हैं परन्तु इससे भी बड़े-बड़े कार्य मन को एकाग्र कर उसे गति देने पर हो सकते हैं। मन में कितनी शक्ति है यह मन को एकाग्र करके ही पहचाना जा सकता है।

ऐसे किस्से पढने व सुनने में आते हैं कि एकाग्र मन से चाहने पर बाहर की वस्तुएं एवं व्यक्ति हमारे इशारे पर चलने लगते हैं। मन को एकाग्र कर देखने से धातु मुड़ गई या उड़ता पक्षी मर कर नीचे गिर गया आदि उदाहरण देखने में आते हैं। मन कोई दृढ़ निश्चय कर ले तो उसे पूरा करने में शरीर की पूरी ताकत स्वतः लग जाती है। मन वैसे ही शक्तिशाली हो जाता है जैसे लेजर बीम या अन्य कोई भौतिक शक्ति।

तथ्य यह है कि हमारा मन बहुत बिखरा हुआ है। एक क्षण को भी मन चुप नहीं बैठता या किसी एक रास्ते पर नहीं चलता। दौड़ लगाता है कभी इस पार तो कभी उस पार। विचार शृंखला में भी तारतम्य नहीं। लक्ष्यों के निर्धारण में भी एकरूपता नहीं। एक ही समय में दो विरोधी लक्ष्यों का निर्धारण करेगा और दोनों को प्राप्त करने की इच्छा भी करेगा।

मन से इन्द्रियां और शरीर नियंत्रित हैं। नियंत्रक ही जब बहका हुआ है तो नियंत्रित इंद्रियों का क्या हाल होगा? वैसा ही जैसे किसी बस या गाड़ी का ड्राइवर नशे में या पागल होने पर होता है। विक्षिप्त मन वाला आदमी तो पागल ही कहलाता है। वह तो मन के भटकाव की पराकाष्ठा है। परन्तु साधारण रूप में भी जो भटकता है उससे मनुष्य व उसकी इंद्रियां किसी भी एक लक्ष्य को निश्चित कर कार्य नहीं करती और इसीलिए उसे इच्छित फल नहीं मिलता।

इसीलिए गीता में उपदेश दिया कि मन रूपी घोड़े को साधो, क्योंकि मन के घोड़े पर सवार हो इंद्रियां शरीर को भटकाती है। यदि मन सधा हुआ है तो इन्द्रियां वश में रहेंगी। यदि मन इंद्रियों के वश में

है तो इन्द्रियों के अनुसार मन नाचेगा और भटकता रहेगा । जैन शास्त्रों में भी आया है –

'ऐगे जिया जिया पंच, पंच जिया जिया दसह, दसहाऊ जिणत्ताणे सव्व सत्तु जिणामहं'

–उत्तराध्ययन सूत्र

एक (मन) को जीतने से पांच (इंद्रियां) जीती जा सकती हैं। पांच को जीतने से दस (पांच इंद्रियां व पांच कामेन्द्रियां) को जीता जा सकता है। उसको जीतने से सर्व शत्रु जीते जा सकते है। इन दस को जीत लिया तो सभी शत्रुओं पर विजय पाई जा सकती है।

जीवन में हमारा बाहरी शत्रु कोई नहीं है। शत्रु सब अन्दर ही बैठे है। अन्दर के शत्रु जीतने पर बाहर के शत्रु स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

मन को जीतने या साधने से ही आध्यात्म एवं भौतिक क्षेत्रों में सफलता मिल सकती है। मन की ताकत को संजोये बिना कोई कार्य नही हो सकता। पतंजलि ऋषि ने भी चित्त-वृत्ति-निरोध को योग कहा है। चित्त की चचलता पर लगाम लगाए बिना कोई योगी नहीं बन सकता। अतः सभी आध्यात्मिक क्रियाएं मन को साधने या नियंत्रण करने से ही प्रारंभ होती है। अब प्रश्न उठता है कि मन को साधें कैसे ? इसके कई साधन हैं। सभी योगियों ने इसके अनेकानेक प्रयोग किए है और इसका साहित्य भरा पड़ा है। कोई मंत्र के जरिए, कोई शब्द से, कोई दृष्टि-स्थिरता से तो कोई श्वास के नियंत्रण से मन को साधते है या एकाग्र करते है। परन्तु मन को साध लेना या एकाग्र कर लेना ही काफी नही है। एकाग्र मन को राग और द्वेष के चक्कर में या आर्त्त व रौद्र ध्यान में ही लगाए रखा तो उस सधे हुए मन से किया राग व द्वेप का कार्य हानिकर ही होगा। अतः मन को एकाग्र कर सुमार्ग पर ले जाना अत्यन्त आवश्यक है। मन की एकाग्रता साधना की प्रथम सीढ़ी है और उसके बाद के कदम और भी सावधानी के हैं। यदि यहां से या बीच में हो भटक गए तो अनर्थ होने वाला है। अतः मन को एकाग्र करने की साधना ज्ञात होनी अत्यन्त आवश्यक है।

मन एकाग्र करने की प्रथम सीढ़ी पर भी ध्यान रखना है कि मन की एकाग्रता किस साधन से प्राप्त की है और क्या लक्ष्य लेकर की है। शब्द या मंत्र से प्रारंभ की स्थिति में मन एकाग्र होगा लेकिन उसको आगे गति नहीं मिलेगी। मन में उस शब्द या मंत्र के प्रति लगाव पैदा होगा। यही बाद में बाधा उत्पन्न करेगा। यदि साधना का पहला कदम ही लगाव पैदा करता है तो आगे सही फल कैसे मिल सकता है? जब हमने जीवन की साधना राग और द्वेष जीतने की बनाई है, अपने आंतरिक शत्रु जीतने की बनाई है तो किसी भी क्रिया से राग या द्वेष उत्पन्न न हो इस बात की पूरी सावधानी बरतनी होगी।

मन को एकाग्र करने का एक साधन है—"आना पान", अर्थात् सांस को देखना। मन को शरीर के किसी एक अंग, यथा—नाक के अग्र भाग पर स्थित कर सांस के आने और जाने को लगातार देखने से मन एकाग्र होगा। सांस की क्रिया स्वतः हो रही है। इस क्रिया को रोकना नहीं है और न ही इसमें सांस का कोई व्यायाम करना है। जैसा भी सांस चल रहा उसे केवल देखना है। कभी देखेंगे सांस छोटा हो जाता है, कभी लंबा आता है, कभी तेजी से आता है कभी धीरे आता है। यह सब स्वतः हो रहा है। परन्तु, साधक केवल देख रहा है और बड़े ध्यान से देख रहा है। कोई भी सांस उसकी जानकारी के बिना आ-जा नहीं रहा है। मन जरा भी भटके पुनः लाकर सांस देखने पर ही लगाना है। मन के भटकने से निराश नहीं होना है। यदि मन को वश में करना इतना आसान होता तो हर कोई योगी नहीं बन जाता! यह प्रारंभ है और मार्ग जटिल है; परन्तु प्रयत्नशील बने रहने पर फल अवश्य मिलेगा।

□

संस्कार : परत-दर-परत

मन केन्द्रित होने से व्यक्ति ध्यान की ओर बढ़ता है। ध्यान से समाधि प्राप्त होती है। परन्तु प्राण की साधना और केन्द्रित मन का उपयोग मन की शुद्धि के लिए करना है। मन पर बिछी परतों को साफ करना है। जब तक परत-दर-परत संस्कार साफ नहीं होते मन शुद्ध नहीं हो सकता और उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि संस्कार क्या हैं और इसकी परतें कैसे बनती हैं ?

शरीर अपनी इन्द्रियों से शब्द, रूप, गंध, स्पर्श आदि प्राप्त करता है। इनको प्राप्त करने पर शरीर में संवेदना होती है। इस संवेदना को प्राप्त करने वाले मन के हिस्से को विज्ञान कहते हैं। संवेदना प्राप्त करने के बाद उसे पहचानना संज्ञा कहलाता है। संज्ञा से यह पहचाना जाता है कि शब्द या रूप पहले देखा या सुना हुआ है या नया है ? किसका शब्द है या किसका रूप है आदि। मन का तीसरा हिस्सा इस संवेदना का तोल

मोल करता है कि अच्छा है या बुरा, शब्द कर्कश है या मधुर, रूप सुन्दर है या भयावह, गन्ध अच्छी है या बुरी आदि। मन के इस भाग को वेदना कहते हैं। यहां तक तो प्राप्त करना, पहचानना और तोल-मोल करने का कार्य हुआ, अब मन का चौथा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा-संस्कार यह तय करता है कि इस संवेदना के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो। अच्छी संवेदना है तो और प्राप्त की जाये और बुरी संवेदना हो तो दूर हटाई जाए। यह प्रतिक्रिया संस्कार का निर्माण या मन पर विभिन्न प्रकार के आग्रह तैयार करती है। इन आग्रह और संस्कारों से मन का संस्कारीकरण हो जाता है और यह व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाता है। व्यक्ति की प्रतिदिन की क्रिया एवं प्रतिक्रिया इन संस्कारों से संचालित होती है। ये संस्कार जन्म या गर्भ से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। गर्भ में जब बालक आठ माह का हो जाता है तब से पहचानने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है और उससे ही संस्कार निर्माण होने लगते हैं, लेकिन अधिकांश संस्कार जन्म के बाद प्रथम पांच वर्षों में बनते हैं और बाद में भी बरकरार बनते रहते हैं। बालक अपने वातावरण में जो भी सुनता और देखता है सबको चुपचाप आत्मसात करता रहता है। हम समझते हैं कि एक साल से कम का बालक क्या समझता होगा ? परन्तु वास्तविकता यह है कि इतने छोटे बालक का मस्तिष्क एक केमरे की तरह कार्य करता है जो चुपचाप सभी चित्रों का रेखांकन करता चला जाता है। मस्तिष्क इन चित्रों का वीडियो केसेट की तरह स्मृति में संग्रहित कर लेता है और इनमें से जिन चित्रों पर बालक ने प्रतिक्रिया की है वे संस्कार के रूप में निर्मित हो जाते हैं।

बालक बहुत छोटा होते हुए भी प्रतिक्रिया करता है। मानो एक चोर घुस आए और बालक के सामने माता-पिता को मारे या उनके साथ बुरा व्यवहार करे तो बालक डर से जोर-जोर से चिल्लाता है और रो-रोकर प्रतिक्रिया जाहिर करता है। यदि यह घटना बहुत क्रूर है तो वैसी ही प्रतिक्रिया और सस्कार दिमाग पर बनेंगे और बालक के बड़े होने पर यदि वैसी ही घटना फिर घटे तो जो संस्कार और प्रतिक्रिया बचपन में हुई वह पुनः घटित होगी। बचपन की उस घटना से बालक विद्रोही बन सकता है या एकदम घुग्गू। उसका बोलना बन्द हो सकता है या एकदम चुपचाप रह सकता है।

जिस प्रकार हिंसक घटना से संस्कार तीव्र रूप से अंकित हुआ उसी प्रकार प्रिय घटनाओं के भी संस्कार बनते हैं। प्यार व दुलार के प्रिय सस्कार बनते हैं और जो बच्चे प्यार नहीं पाते हैं वे सबको अपना दुश्मन समझने लगते हैं।

बचपन से ही बनने वाले यह संस्कार कई प्रकार की कल्पनाएँ, चेहरे और चित्र मन पर छोड़ जाते हैं और ये संस्कार भविष्य में ऐसी ही घटनायें होने पर क्या प्रतिक्रिया करें, इसके भी संकेत (Code) छोड़ देते हैं और तब मन बिना अधिक विश्लेषण किये पूर्वानुभव और पूर्वाग्रह के आधार पर तत्क्षण प्रतिक्रिया कर देता है। हर बार खुजलाहट के लिए चेतन मन हाथ को आज्ञा नहीं देता कि खुजलाहट मिटाए। यह आदत बन गई और स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो गई। इसी प्रकार सुरक्षा के लिए या अप्रिय घटना से बचने के लिए रिफ्लेक्स-एक्शन स्वतः होता है। रिफ्लैक्स काम्पलेक्स आदि शब्द संस्कार को ही प्रतिभासित करते हैं।

हर संवेदना की प्रतिक्रिया होती है और हर प्रतिक्रिया से संस्कार-निर्माण होता है। प्रतिक्रिया पुनः किसी प्रतिक्रिया को पैदा करती है और यह संसार-चक्र अनवरत रूप से चलता रहता है। जब तक संस्कार हैं प्रतिक्रिया होगी और जब तक प्रतिक्रिया करेंगे संस्कार बनेंगे।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि क्रिया और प्रतिक्रिया में फर्क है। क्रिया वह है जो जानकर की जावे और प्रतिक्रिया वह है जो अनजान में होती रहे। व्यक्ति जब सब बातों को जानकर निर्णय लेकर कोई कार्य करता है वह क्रिया है; लेकिन बिना जाने ही पूर्वाग्रह या पूर्व संस्कार से जो कार्य किया जाता है वह प्रतिक्रिया है।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य कितना कार्य जानकर करता है और कितना अनजाने में करता है? मनोवैज्ञानिक बताते हैं कि 90 प्रतिशत से भी अधिक कार्य तो अनजाने या प्रतिक्रिया के रूप में होते हैं। बहुत कम कार्य जानकारी से होते हैं। इसीलिए कई व्यक्ति कार्य कर चुकने के पश्चात् पछताते है कि ऐसा वे चाहते न थे परन्तु कर गये। क्रोध में पागल होकर प्रतिक्रिया कर दी और बाद में पछताए कि यह क्या किया। यह

सब अन्धी प्रतिक्रिया है । संस्कार जनित प्रतिक्रिया है । यदि कुछ क्षण लिए रुक कर सोच लेते तो शायद वैसी प्रतिक्रिया न करते ।

वास्तविकता यह है कि हम अपने चिन्तन, संवेदना और प्रतिक्रि के प्रति जागरूक नहीं है । हम अपने आपको नहीं जानते है और अधिकां कार्य अनजाने में करते हैं, यद्यपि छाती ठोक कर कहते हैं कि यह कार्य मैं किया जबकि कार्य करने वाले तो संस्कार थे और व्यक्ति केवल उपकरण संस्कार मुक्त होकर कार्य कहां होता है ? संस्कार का निर्माण भी हम कर हैं और उससे मुक्त होने का उपाय भी हमारे पास है ।

जो भी क्रिया या प्रतिक्रिया हम करते हैं संस्कार का निर्माण होत है, परन्तु वे संस्कार कितने स्थाई हैं और कितने काल तक रहेंगे यह हमा भाव और कषाय के प्रकार व उसकी तीव्रता पर निर्भर करता है । यदि किसी क्रिया के पीछे दया व करुणा की भावना है तो वह सुसंस्कार का निर्माण करता है । यदि इसके पीछे दुर्भावना है तो कुसंस्कार का निर्माण करती है । यदि कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) तीव्र है तो संस्कार तीव्र प्रकृति का होगा और मन्द है तो मन्द प्रकृति का होगा । यह संस्कार कितने काल तक रहेगा यह इस बात पर निर्भर है कि उस संस्कार को हमने कितनी बार पाला और पोपा है और उसे जीवित रखने की कोशिश की है ।

ऊपरोक्त बात एक उदाहरण से स्पष्ट होगी । एक व्यक्ति ने हमें कुछ अपशब्द कहे । कानों को कर्कश लगा और अपने दिमाग में अपने प्रति जो मूर्ति थी उसे बड़ा धक्का लगा । इस मूर्ति से जितना अधिक चिपकाव होगा उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया होगी । समझदार व्यक्ति इस घटना के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करेगा और कोई संस्कार का निर्माण नहीं होगा । कम समझदार व्यक्ति प्रतिक्रिया करेगा और उसको वापिस अपशब्द कहेगा । अब इस प्रतिक्रिया से पुनः प्रतिक्रिया होगी और शृंखला प्रारम्भ होगी । अब पहला व्यक्ति क्या कहता है और उससे फिर क्या धक्का लगता है और क्या प्रतिक्रिया होती है यह सब कल्पना की बात है लेकिन स्पष्ट है कि यह एक अप्रिय घटना हादसा बन सकती है और केवल वाक्‌युद्ध होकर भी रह सकता है । जो भी हो, संस्कार निर्माण की काफी

सामग्री मिल गई। अब यह वाद-विवाद क्या रूप लेगा, कितने दिन की दुश्मनी रहेगी यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि दोनों पक्ष कितने दिन तक गुस्सा रखते हैं और कितनी बार उस गुस्से के आवेश में पुनः मिलने पर प्रतिक्रिया करते हैं या अपने ही अवचेतन मन में प्रतिक्रिया करते रहते हैं। वे घटना को आई-गई कह कर समाप्त कर देते हैं तो संज्वलन कषाय (पानी पर लकीर खींचने) की तरह संस्कार का निर्माण होकर समाप्त हो सकता है। अधिक समय चले तो बालू मिट्टी पर लकीर की तरह संस्कार का निर्माण होकर समाप्त हो सकता है। लेकिन संस्कार जब पत्थर की लकीर की तरह कायम होते हैं तो जन्म-जन्मान्तर तक ये संस्कार कार्य करते हैं। पत्थर की लकीर की तरह संस्कार तब बनते हैं जब हम घटना की प्रतिक्रिया मन ही मन दोहराते हैं, उस पर चिन्तन करते हैं और संकल्पों को दृढ़ करते रहते हैं। इसमे पूर्वाग्रह का निर्माण होता है और जब दूसरा व्यक्ति वापिस सामने आता है तो निमित्त पाते ही प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है या कभी-कभी संस्कार इतने तीव्र होते हैं कि निमित्त की भी इन्तजार नही करते और प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

गजसुकुमाल मुनि का उदाहरण लें। कथानुसार गजसुकुमाल कृष्ण के छोटे भाई थे। एक दिन कृष्ण राजमार्ग पर जा रहे थे। उन्होंने एक सुन्दर बालिका को देखा। निर्णय किया कि उसकी शादी गजसुकुमाल से की जाये। बालिका के पिता सोमिल ब्राह्मण को बुलाकर अपना निश्चय बता दिया। सोमिल के लिए अहोभाग्य था। परन्तु दूसरे ही दिन गजसुकुमाल भगवान अरिष्टनेमि तीर्थंकर के दर्शन को गये और उन्हें वहीं वैराग्य हो गया। उन्होंने उसी दिन दीक्षा ले ली और दीक्षा लेकर श्मशान मे तप करने चले गये। जब वे श्मशान में ध्यान लीन थे, सोमिल ब्राह्मण उधर से निकला और वह अपने होने वाले दामाद को तपस्वी वेश में देखकर आग-बबूला हो गया। उसकी लड़की का विवाह राजघराने में होने वाला था और उसी व्यक्ति ने वचन भंग कर दिया। उसने अपने क्रोध की सब सीमा लांघ कर ध्यानस्थ गजसुकुमाल के सिर पर गीली मिट्टी की पाल बनायी तथा बीच में जलते हुए अंगारे रख दिये। सोमिल अंगारे रखकर

तत्काल भाग गया। गजसुकुमाल ने इसकी कोई प्रतिक्रिया न की, सारे दु:ख को शरीर का दु:ख मानकर वे ध्यानावस्था में बैठे रहे और वेदना को समता भाव से सहन करते रहे। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। यहां सोमिल ब्राह्मण की कार्यवाही पर विशेष नजर डालें। उसने प्रतिक्रिया कितनी तीव्र की, क्या कोई अपने होने वाले दामाद को वचन भंग के लिए बिना पूछे और अन्य समाधान किये बिना ही इतनी तीव्र वेदना और सजा दे सकता है ? वह अवश्य अपने पूर्व संस्कारों से ग्रसित था और उसके वशीभूत होकर उसने यह क्रिया की।

इस क्रिया से एक ओर भय का संस्कार उसमें बना। उसने द्वारिका के राजा कृष्ण के भाई को मारा है, वह बच कैसे जायेगा, अतः वह जल्दी-जल्दी द्वारिका से भागने लगा परन्तु रास्ते में ही कृष्ण की सवारी को आते देख लिया। कृष्ण को देखते ही भय के संस्कारों ने ऐसा कार्य किया कि वह सड़क पर गिरकर वहीं मर गया। यह है संस्कारजनित क्रिया एवं प्रतिक्रिया का एक उदाहरण। ऐसे कई उदाहरण मिलेंगे।

संस्कारों की परतें बनती रहती हैं और हम उनमें बन्धकर प्रतिक्रिया करते रहते हैं और नये संस्कार बनाते जाते हैं। संस्कार बनाते ही नहीं उनको पाल-पोष कर अधिक सुदृढ भी बनाते हैं। जितने ये संस्कार सुदृढ़ होते हैं उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया करते हैं। यह परतें हमें बांधे रखती हैं और हम अपने आपको विवश महसूस करते हैं। परन्तु, इन संस्कारों से मुक्ति पाना हमारे हाथ में है, और संस्कार-मुक्ति ही जीवन-मुक्ति है। □

संस्कार-निरोध : संवर

संस्कार-मुक्ति ही जीवन-मुक्ति है । इसके दो उपाय हैं– 1. नये सस्कार बनने न दें 2. पुराने संस्कारों को खपायें या उनसे निकलने की कोशिश करें । नये संस्कारों की आवक पर रोक या निरोध को संवर कहते हैं ।

स्पष्ट है कि जब तक नये संस्कारों की आवक पर रोक नहीं लगायेंगे पुराने संस्कारों को खपाने या उनसे मुक्ति पाने का अवसर ही नहीं मिलेगा । यदि तालाब का पानी निकालना है तो नई आवक पर रोक लगानी होगी अन्यथा पुराना पानी निकल नही सकता । यदि नये पानी की आवक से पानी बाहर निकलने की गति कम है तो तालाब का जल-स्तर बढेगा न कि घटेगा । इसी प्रकार संस्कारों की आवक पर नियंत्रण न करने से पुराने संस्कारों से मुक्ति पाना असंभव है । आवक पर नियंत्रण न करने से एक परिस्थिति और उत्पन्न होगी–नये सस्कार

ग्रौर पुराने संस्कारों की ग्रापसी प्रतिक्रिया से नयी व पेंचीदी समस्याएं उत्पन्न होंगी ग्रौर जैसे व्यक्ति एक गांठ को सुलझाने के चक्कर में नई गांठ भी लगा लेता है ऐसे ही मन की गुत्थियां व संस्कारों की पेंचीदगियां सुलझने की बजाय उलझने लगेंगी। उलझन से निकलने की प्रथम सीढ़ी है – नई ग्रावक पर रोक।

सभी संस्कार हमारे मन, वचन ग्रौर काया के व्यापार से बनते हैं। शरीर ग्रौर वाणी द्वारा जो संस्कार बनते हैं उनसे तो हम काफी परिचित हैं, क्योंकि ये स्थूल रूप हैं। परन्तु, शरीर ग्रौर वाणी की क्रिया के पीछे मूल ग्राधार मन की क्रिया एवं प्रतिक्रिया है। मन काफी सक्रिय होता है। मन में कई बातें तो हजारों बार घूमती हैं ग्रौर उस पर मनन, संकल्प ग्रौर प्रतिसंकल्प के बाद जो संस्कार बनते हैं उसका कुछ ग्रंश ही शरीर व वाणी पर उतरता है। ग्रतः मूल में तो मन में होने वाली क्रिया एवं प्रतिक्रिया पर हमें रोक लगानी होगी। लेकिन प्रारम्भ में शरीर ग्रौर वाणी की क्रिया पर भी रोक लगानी होगी।

इसका प्रथम कदम है–शील ग्रर्थात् सदाचार। इसको ऋषियों ने ग्रलग-ग्रलग नाम दिये हैं। पातंजल ऋषि ने यम ग्रौर नियम कहा है तो भगवान बुद्ध ने शील ग्रौर भगवान महावीर ने ग्रणुव्रत। सब में बात एक ही है कि मनुष्य जब तक सदाचार का पालन नहीं करता वह किसी भी संस्कार-मुक्ति की साधना पर नहीं चल सकता।

सर्व प्रथम मनुष्य को ग्रपने साथियों व ग्रास पास के प्राणियों के प्रति दया व मैत्री का भाव लाना होगा। ग्रन्य शब्दों में, उनके प्रति हिंसा या वैर का भाव न हो, किसी भी प्राणी का वध न करे, भोजन में मांस का उपयोग न करें ग्रौर किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचाएं। यह मोटे रूप से ग्रहिंसा का व्रत हुग्रा। इसी प्रकार ग्रपने स्वार्थवश या दूसरों का ग्रहित करने के लिये झूठ न बोलें। किसी की वस्तु को न चुरायें ग्रौर चोर का साथ न दें। स्त्री का सम्मान करें ग्रौर समाज में स्थापित मूल्य–परस्त्रीगमन व वेश्यागमन जैसे निषेधित कार्यों में भाग न लें। धन-संग्रह एक सीमा से ग्रधिक न करें। मादक वस्तुएं, जैसे– शराब, गांजा, ग्रफीम, तम्बाकू ग्रादि का सेवन न करें। ये कुछ मोटे-

मोटे शील के व्रत हैं जो किसी भी साधना से पूर्व स्वीकारने आवश्यक हैं। इनके बिना हम साधना के क्षेत्र में कोई कदम नही रख सकते।

परन्तु, यह तो शरीर और वाणी पर ऊपरी रोक हुई। प्रश्न उठता है, मनुष्य ये काम करता ही क्यों है? यह रोक कानून से लगेगी तो जब तक दण्ड कायम है व्यक्ति कानून को मानेगा और जब दण्ड से बचने का रास्ता दिखेगा, कानून तोड़ेगा। यदि समाज को भय है तो समाज के बंधन शिथिल होने पर तोड़ेगा। यदि नरक का या भविष्य में भगवान द्वारा कोई दण्ड देने का भय है तो जब देखता है कि उसे दो-चार बार नियम तोड़ने पर दण्ड नहीं मिला तो निरंकुश होकर तोड़ेगा। प्रश्न यह नहीं है कि वह नियमों का पालन करे या पालन कराने के लिये दण्ड-व्यवस्था हो अपितु प्रश्न यह है कि वह नियमों का पालन क्यों करे? क्या दृष्टिकोण है इसके पीछे?

इसका उत्तर एक अन्य प्रश्न से किया जा सकता है। मनुष्य किसी की हिंसा या वध क्यों करता है? झूठ क्यों बोलता है? क्रोध क्यों करता है? पराई स्त्री या पराये धन पर नजर क्यों डालता है?

स्वभावत: उत्तर सामने आयेंगे। प्राय: कहा जाता है कि मनुष्य अपनी भूख मिटाने से लिये हिंसा करता है, किसी प्राणी का वध करता है। परन्तु भूख मिट जाने के बाद भी हिंसा क्यों करता है? जिस जानवर, जैसे शेर को कोई नहीं खाता फिर भी उसको क्यों मारा जाता है? उसको खाल को ड्राइंग रूम में सजाने के लिये या उसके सिर में मसाला भर कर लटका कर दिखाने के लिये कि शेर को उसने मारा है! भूख मिटाने तक हिंसा हो तो शायद कोई क्षमा भी करेगा लेकिन अनर्थ हिंसा व अपने अहं को या लालच को पूरा करने की हिंसा को कैसे सही ठहराया जा सकता है?

हिंसा या धन-संग्रह या व्यभिचार अपने अहं के पोषण के लिये होता है। मनुष्य अपनी प्रशंसा या कीर्ति के लिये कई कार्य करता है। उसका प्रथम ख्याल यही होता है कि संसार की सब वस्तुएं पाने योग्य हैं और उनमें से जितनी पर उसका आधिपत्य होगा उतना ही बड़ा आदमी वह कहलायेगा। इसीलिए सिकन्दर विश्वविजय पर निकला

या हिटलर ने विश्वविजय का सपना देखा। परन्तु, सामान्य रूप मे भी हर व्यक्ति यही सोचता है कि अधिक से अधिक धन, जमीन, द्विपद व चतुष्पद उसके अधीन हों। इसी होड़ में युद्ध, हिंसा और अनेक दुराचार होते हैं। पुराने युग में केवल राजा-महाराजा इस प्रकार की होड़ व संग्रह के लिये युद्ध करते थे। आज प्रत्येक व्यक्ति इस होड़ में लग रहा है और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में युद्ध कर रहा है। हजारपति से लखपति और लखपति से करोड़पति के सपने संजोकर कोई कालाबाजारी, तस्करी में लगा है तो कोई कर चोरी और रिश्वतखोरी में; तो कोई रिश्तेदार या नजदीक से नजदीक प्रिय व्यक्ति यथा अपनी पत्नी या बच्चे को जिन्दा जलाकर धन प्राप्ति की चेष्टा में लगा है। यह सब इसीलिये है कि धन ही में जीवन-बुद्धि लगा दी। धन सर्वोपरि हो गया और इसके पीछे वात्सल्य, प्रेम, प्राणी की रक्षा आदि मूल्य समाप्त कर दिये। धन के लिये घिनौने धंधे, जैसे दवा में मिलावट, अन्य खाने की वस्तुओं में मिलावट शुरू हो गये, रिश्ते और नाते टूट गये और आपस के मिलाप या सम्बन्ध खत्म हो गये। छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा पर रोक की बात तो क्या करें, मोटे-मोटे अपराध भी रुक जायें तो बड़ी बात है।

शीलव्रत के पालन में अहिंसा की पालना ऊपरी रूप से हो, यह काफी नहीं। मांस नहीं खावें, चींटी भी नहीं मारें, हरी सब्जी भी नही खावें; परन्तु बहू को जिन्दा जला दें या दवा में मिलावट कर अनेक रोगी मार डालें, ब्याज से लोगों को चूस कर निर्जीव करदे, यह अहिंसा या शीलव्रत का उद्देश्य नहीं। एक ही जीवन धारा में इस प्रकार के विरोधी व्यवहार हों यह कभी भी कल्पना नहीं थी। अतः जब तक दृष्टि में फेर नहीं होगा शुद्ध अहिंसा जीवन में नही उतर सकती। जब तक धन को सर्वोपरि मान रखा है, अन्य प्राणी तुच्छ ही दिखाई देंगे और तब धन की प्राप्ति के लिये प्राणियों की हिंसा से कोई दुःख या संकल्प-विकल्प भी नहीं होगा।

अतः मुख्य बात है दृष्टि-परिवर्तन की। हमारा जीवन के प्रति और इस संसार के प्रति क्या दृष्टिकोण है। जब तक इस ससार में जीवन-बुद्धि लगा रखी है और ससार की वस्तुओं को ग्राह्य, सग्रह-

योग्य और स्थायी मान रखा है, जीवन पूरा ही धन-संग्रह या वस्तु संग्रह में लगा रहेगा और तब तक अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि शीलव्रत जीवन में नहीं उतर सकते और न ही संस्कार की आवक रुक सकती है। अतः बाहरी रूप से शीलव्रत पालने के साथ दृष्टि परिवर्तन की अत्यन्त आवश्यकता है।

जैसा हमारा दृष्टिकोण होगा उसी के अनुरूप हमारे सारे जीवन का क्रिया-व्यवहार होगा। यदि भौतिक वस्तुओं और सुख-भोगों को नित्य व शाश्वत मान कर इनका संग्रह करना ही जीवन का दृष्टि-कोण बनाया है तो वह अपना पूरा जीवन इसी में खपा देगा। पूरा जीवन संघर्ष और दुःखमय अन्त। पूरा जीवन सुखभोग की सामग्री को संग्रह करने में ही लगा रहता है और अन्त में सबको यही छोड़कर चल देता है। उसे समझना है कि भौतिक जगत की वस्तुओं के संग्रह करने का उद्देश्य क्या है? सुखभोग का अन्त क्या है? जिसने इन प्रश्नों को सही रूप से समझ लिया है वह सही राह पर चल देगा। जिसने नही समझा वह पूरा जीवन इसी संग्रह प्रवृत्ति में लगा कर अपनी संस्कार-वृद्धि में लगा रहेगा।

मिथ्या दृष्टिकोण से ही भौतिक जगत की वस्तुओं में रस उत्पन्न होता है। उन वस्तुओं के संग्रह में व्यक्ति अपने आपको विस्मृत कर देता है। जब वस्तुओं के संग्रह में रस लेता है तो लोभ से घिर जाता है और सीधे तरीके से न मिले तो माया या कपट से प्राप्त करता है और कोई बाधा डाले तो क्रोध करता है। यही क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय हैं जिनसे संस्कार-निर्माण होता है। जब ये कषाय मन, वचन व शरीर में घर करते हैं तो व्यक्ति अशुभ कर्मों में लगा रहता है। अतः, एक मिथ्यादृष्टि ही संस्कार आवक की पूरी कड़ी को पूरा कर आवक के सब द्वार खोल देती है। सहीदृष्टि इन द्वारों को बन्द कर मन, वचन व काया को शुभ व्यापार में लगा देती हैं।

संस्कार निर्माण का एक चक्र है जो बौद्ध शास्त्रों में समझाया गया है। इसके अनुसार अविद्या से संस्कार, जन्म और शरीर की इंद्रिय-प्राप्ति होती है। इन इन्द्रियों द्वारा किसी भी शब्द, गंध, रूप या वस्तु

का स्पर्श होता है और वेदना महसूस होती है और इसी वेदना के प्रति तृष्णा या आसक्ति पैदा होती है जो मनुष्य को क्रिया करने को प्रेरित करती है। उस आसक्ति के अनुसार ही हम अच्छा या बुरा कार्य करते हैं और संस्कार का निर्माण करते हैं। उसी से जन्म और मृत्यु का उद्भव होता है।

इस कड़ी से स्पष्ट है कि अविद्या या अज्ञान से तृष्णा और आसक्ति में मनुष्य फंसता है और यदि संस्कार-निर्माण की कड़ी को तोड़ना है तो शरीर और इंद्रियों पर होने वाले स्पर्श या अनुभव के प्रति आसक्ति से परे हटना होगा और तब ही संस्कारों के निर्माण पर रोक लगेगी। अतः अपने जीवन में यह जागृति लानी है कि शरीर और इंद्रियाँ जो महसूस करती हैं उसके अनुसार ही अंधी प्रतिक्रिया करनी है या इस संसार के प्रति सही दृष्टिकोण अपना कर सही प्रतिक्रिया करनी है।

संसार के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाने पर व्यक्ति अपने आप ही अकुशल कर्म, हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार का त्याग करेगा और केवल ऊपरी रूप से ही नहीं बल्कि आंतरिक रूप से छोड़ने का प्रयत्न करेगा।

सांसारिक वस्तुओं में सुख ढूंढने के कारण ही व्यक्ति अकुशल कर्म करता है, प्राणियों का दमन करता है, अनुशासन करता है; लेकिन जब यह दृष्टि आ गई कि वस्तुओं से प्राप्त सुख शाश्वत नहीं है तब इस प्रक्रिया को छोड़ेगा और बाहर की वस्तुओं को छोड़कर 'स्व' में लौटने का प्रयत्न करेगा।

बाहरी वस्तुओं की आसक्ति को छोड़ स्वयं में लौटना ही स्व-धर्म है। स्वभाव को जानना और स्वयं में शरणागत होना ही सही दृष्टिकोण है। इसी को गीता में कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यों मोक्षयिष्यामि मा.-

गीता : 6।

इस श्लोक का साधारण रूप से अर्थ तो यह किया जाता है कि व धर्मों का परित्याग कर मेरी (भगवान) शरण स्वीकार कर, मैं भगवान) तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा किन्तु इस श्लोक को गहराई में जाने से पता लगेगा कि मेरी शरण भगवान की शरण न होकर स्वयं की शरण है और स्वयं को शरण में आकर स्वयं को देखने व जानने से स्वयं के सब पाप स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

जो स्वयं को देखने लगता है उसको राह दिखाने की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं दृष्टा है। आचारांग सूत्र में कहा है—

उद्देसो पास गस्सणत्थि।

—दृष्टा के लिये कोई उपदेश या निर्देश की आवश्यकता नही है।

जब तक वह बाहरी वस्तुओं में घूमता है और उनमें सुख ढूंढता है तब तक उसे सुख की बजाय दुःख ही मिलता है। जब बाहरी वस्तुएं छोड़कर स्वय में खोज प्रारम्भ करता है तब ही उसे सच्चा सुख मिलता है। जो स्वयं को जानता है वह बाहर को भी जानता है। जो स्वयं को नहीं जानता वह बाहर को भी नही जानता।

संस्कार मुक्ति के लिये संस्कार की आवक को रोकना होगा। इसके लिये अविद्या या मिथ्यादृष्टि से मुक्ति पाना होगा, अर्थात् जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाना होगा। वस्तुओं से जीवन-दृष्टि हटाकर स्वयं के प्रति लगानी होगी। बाहरी वस्तुओं से ममता हटाकर अन्तर्दृष्टि जगानी होगी। जब व्यक्ति अन्तर्मुखी होगा तब ही वह वस्तु-संग्रह की बजाय स्वयं के गुणों में उन्नयन पर विचार कर सकेगा। अपनी अंतरंग की खोज से ही उसको संस्कार-मुक्ति का साधन मिल सकेगा।



का स्पर्श होता है और वेदना महसूस होती है और इसी वेदना के प्रति तृष्णा या आसक्ति पैदा होती है जो मनुष्य को क्रिया करने को प्रेरित करती है। उस आसक्ति के अनुसार ही हम अच्छा या बुरा कार्य करते है और संस्कार का निर्माण करते हैं। उसी से जन्म और मृत्यु का उद्भव होता है।

इस कड़ी से स्पष्ट है कि अविद्या या अज्ञान से तृष्णा और आसक्ति में मनुष्य फंसता है और यदि संस्कार-निर्माण की कड़ी को तोड़ना है तो शरीर और इंद्रियों पर होने वाले स्पर्श या अनुभव के प्रति आसक्ति से परे हटना होगा और तब ही संस्कारों के निर्माण पर रोक लगेगी। अतः अपने जीवन में यह जागृति लानी है कि शरीर और इंद्रियाँ जो महसूस करती हैं उसके अनुसार ही अंधी प्रतिक्रिया करनी है या इस संसार के प्रति सही दृष्टिकोण अपना कर सही प्रतिक्रिया करनी है।

संसार के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाने पर व्यक्ति अपने आप ही अकुशल कर्म, हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार का त्याग करेगा और केवल ऊपरी रूप से ही नहीं बल्कि आंतरिक रूप से छोड़ने का प्रयत्न करेगा।

सांसारिक वस्तुओं में सुख ढूंढने के कारण ही व्यक्ति अकुशल कर्म करता है, प्राणियों का दमन करता है, अनुशासन करता है; लेकिन जब यह दृष्टि आ गई कि वस्तुओं से प्राप्त सुख शाश्वत नहीं है तब इस प्रक्रिया को छोड़ेगा और बाहर की वस्तुओं को छोड़कर 'स्व' में लौटने का प्रयत्न करेगा।

बाहरी वस्तुओं की आसक्ति को छोड़ स्वयं में लौटना ही स्व-धर्म है। स्वभाव को जानना और स्वयं में शरणागत होना ही सही दृष्टिकोण है। इसी को गीता में कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

गीता : अध्याय-18, श्लोक 66।

इस श्लोक का साधारण रूप से अर्थ तो यह किया जाता है कि सब धर्मों का परित्याग कर मेरी (भगवान) शरण स्वीकार कर, मैं (भगवान) तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा किन्तु इस श्लोक की गहराई में जाने से पता लगेगा कि मेरी शरण भगवान की शरण न होकर स्वयं की शरण है और स्वयं की शरण में आकर स्वय को देखने व जानने से स्वयं के सब पाप स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

जो स्वयं को देखने लगता है उसको राह दिखाने की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं दृष्टा है। आचारांग सूत्र में कहा है—

उद्देसो पास गस्सणत्थि।

—दृष्टा के लिये कोई उपदेश या निर्देश की आवश्यकता नहीं है।

जब तक वह बाहरी वस्तुओं में घूमता है और उनमें सुख ढूंढता है तब तक उसे सुख की बजाय दुःख ही मिलता है। जब बाहरी वस्तुएं छोड़कर स्वयं में खोज प्रारम्भ करता है तब ही उसे सच्चा सुख मिलता है। जो स्वयं को जानता है वह बाहर को भी जानता है। जो स्वयं को नहीं जानता वह बाहर को भी नहीं जानता।

संस्कार मुक्ति के लिये संस्कार की आवक को रोकना होगा। इसके लिये अविद्या या मिथ्यादृष्टि से मुक्ति पाना होगा, अर्थात् जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाना होगा। वस्तुओं से जीवन-दृष्टि हटाकर स्वयं के प्रति लगानी होगी। बाहरी वस्तुओं से ममता हटाकर अन्तर्दृष्टि जगानी होगी। जब व्यक्ति अन्तर्मुखी होगा तब ही वह वस्तु-संग्रह की बजाय स्वयं के गुणों में उन्नयन पर विचार कर सकेगा। अपनी अंतरंग की खोज से ही उसको संस्कार-मुक्ति का साधन मिल सकेगा।

□

संस्कार-क्षय : मुक्ति

जीवन का सार इसी में है कि हम स्वयं को जानें, स्वयं को खोजें और अन्दर डुबकी लगावें। इसीलिए मन की साधना, अर्थात् 'आनापान' से मन को केन्द्रित करने की और ध्यान की प्रक्रिया प्रारम्भ की गई। इससे स्वयं को खोजने का साधन मिला। शांत मन से स्वयं को देखना है। स्वयं के स्वभाव, क्रिया, प्रतिक्रिया को देखना व जानना है। जो स्वयं को जानने लगा वह संस्कार-मुक्ति की राह पर चलने लगा। संस्कार-मुक्ति ही जीवन की वास्तविक मुक्ति है।

संस्कार तो हम जन्म-जन्मान्तर से बनाते आये हैं और प्रतिक्षण बना रहे हैं। जीवन में सही दृष्टि लाने और शील-पालन से संस्कारों की आवक रुकी या कम हुई; लेकिन जो पहले का स्टाक या स्कंध जमा है उसका क्या होगा? यह स्कंध तो हमारे अवचेतन मन में बंद है। चेतन मन हमारे पूरे मन का एक छोटा सा अंश है। शेष अन्दर

क्या है इसका हमें पता भी नहीं है। अवचेतन मन सक्रिय है, केवल हमें ही इसका पता नहीं है। अवचेतन मन हमारे चिन्तन, क्रिया, प्रतिक्रिया सब पर हावी है। हमें संस्कार-स्कंध के क्षय या समाप्ति के लिये इस अवचेतन मन तक पहुंचना होगा।

ध्यान से अवचेतन मन तक पहुंचा जा सकता है, परन्तु इसके लिये सही विधि का ज्ञान होना चाहिये। इतना ही नहीं, अवचेतन मन तक पहुंचने पर जब पुराने संस्कार, जो उभर कर सामने आवें तो उनका कैसे सामना करें, इसमें भी प्रशिक्षित होना आवश्यक है।

इस स्थिति तक पहुंचने के मार्ग कई हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार चलता है। एक उपाय है–विपश्यना। विपश्यना का अर्थ है, विशेष प्रकार से देखना। इसको ऐसे भी कह सकते हैं–विविध प्रकार से देखना। यह कार्य केवल देखने का है और देखना है केवल सत्य को। सत्य को देखना और जानना ही विपश्यना है।

सत्य क्या है? यह भी बहुत कठिन प्रश्न है। यह फैसला करने में ही ऋषि-मुनियों के जीवन खप गये। परन्तु विपश्यना करने वाले को यह बात बहुत जल्दी समझ में आ जावेगी। जो वर्तमान में हो रहा है, जो घटना घट रही है और जो स्वभावतः हो रहा है उसको जानना व देखना ही सत्य को देखना या जानना है। सत्य ही धर्म है।

'आनापान' से मन केन्द्रित कर शरीर के किसी एक भाग पर लगाया, केन्द्रित मन शरीर के उस भाग में जो हो रहा है उस को जानेगा, शरीर पर उस वक्त कोई न कोई संवेदना हो रही है– खुजलाहट, सुरसुराहट, धड़कन, फड़कन, गर्मी, सर्दी, स्पर्श कुछ भी; जो हो रहा है वही सत्य है। यह जो घटना हो रही है उसे वेदना कहते है। वेदना को देखना 'वेदनानुपश्यना' कहलाती है। वेदना देख कर क्या करें? केवल देखें और जानें। खुजलाहट है तो खुजलाना नहीं है। धड़कन है तो उसको रहने दें, उसकी चाहना नहीं करनी है। जो है उसे उसी प्रकार देखना है, प्रतिक्रिया नहीं करनी है। यद्यपि मन का पुराना स्वभाव प्रतिक्रिया करने का है। मन हमेशा अच्छी चीज को चाहता है और खराब चीज को हटाता है। मन को प्रशिक्षित करना है कि कोई

प्रतिक्रिया न करे; केवल देखे और जाने। इस प्रकार मन को शरीर के हर अंग से गुजारना है और जिस अंग से मन गुजरे वहां जो संवेदना हो रही है उसे जानना है और जानकर तटस्थ रहना व उपेक्षा भाव से आगे चल देना है। यों चोटी से एड़ी तक और एड़ी से चोटी तक हर अंग से मन गुजारते हुए यात्रा करनी है। यह प्रज्ञा को जगाना है। जहां पुराने स्वभाव से स्वतः अवचेतन मन प्रतिक्रिया करता था उसकी जगह जागृत रूप से स्वभाव को जानकर केवल देखना है और राग-द्वेष से ऊपर उठना है। वेदना को देखते-देखते हमने अपनी सारी काया को देख लिया। यह 'कायानुपश्यना' हो गई। काया और वेदना को देखकर कोई तृष्णा न जागे, न घृणा के भाव जागें यह संस्कार-निरोध व संस्कार-निर्जरा दोनों क्रियाएं साथ हो गईं। इस स्थित को 'कायोत्सर्ग' भी कहते हैं।

काया को देखा और काया पर होने वाली वेदना सुखद या दुःखद—जैसी भी है, उसको देखा और तटस्थ भाव से देखकर निस्संग हो जावें तो कायोत्सर्ग या काया के शिथिलन की स्थिति बनती है। इसमें काया के प्रति जो भी मोह व तृष्णा है उससे बाहर निकलना है। सबसे ज्यादा आसक्ति या चिपकाव तो हमें हमारी काया या शरीर से है। शरीर को जरा भी दुःख होता है हम विचलित हो जाते हैं। ध्यान में बैठे हैं, पांव पर दबाव आया कि तत्काल हटाने की चेष्टा करते है। मच्छर ने काटा कि तत्काल उसे खुजलाने की कोशिश करते हैं। जो भी शरीर को कष्टदायक है उसे हटाना चाहते है। जो भी प्रिय लगता है उसे रोकते हैं। परन्तु जब विपश्यना करते है तो प्रिय और अप्रिय संवेदना के प्रति तटस्थ भाव रखना हो है। काया से मोह हटाना या काया का उत्सर्ग करना ही कायोत्सर्ग है।

इस क्रिया से काया का शिथिलन स्वतः होता है। शिथिलन होता है तो बहुत से दर्द जो नाड़ी तन्त्र के संकुचन से पैदा होते हैं, स्वयं गायब हो जाते हैं। विपश्यना की इस प्रारम्भिक साधना से यदि छोटे-मोटे दर्द गायब हो जावें तो चमत्कार नहीं है। यह प्रक्रिया का साधारण व आवश्यक परिणाम है।

इसके वाद है 'मनोनुपश्यना'। अब मन से मन को देखना है। मन में कितने भाव या विचार आते हैं; मन कभी चुप रहता ही नहीं। यह वर्तमान में रमण नहीं करता है, कभी भूतकाल में जाता है तो कभी भविष्य में। जो वर्तमान में हो रहा है उसे जानने की कोशिश नहीं करता। अब केन्द्रित मन अपने ही मन को देखने लगा कि यह कहां जाता है—राग में जाता है या द्वेष में, लड़ने जाता है या प्रेम करने। इस चक्कर को स्वयं जानने लगा। अब स्वयं मन के व्यापार को देखने लगा तो मन की भाग-दौड़ स्वतः कम हो जावेगी। अब मन शांत होकर राग व द्वेष के भाव छोड़ने लगेगा व मन की ग्रन्थियां खुलने लगेंगी। मन की कठिन से कठिन गुत्थियां भी संवेदना के रूप में शरीर पर प्रकट होवे और उसे केवल देखकर निकाल दें तो मन की पुरानी गाँठें खुल सकती हैं और मनोविकार से पीड़ित व्यक्ति स्वस्थ हो सकता है।

मन और काया से स्वस्थ होना विपश्यना का पहला सरल परिणाम है परन्तु इसे मंजिल नही मानना है। यह तो प्रारम्भिक सफलता की निशानी है। वास्तविक सफलता तो संस्कार-मुक्ति में है।

जब नई आवक कम हो गई या बंद हो गई तो पुराने संस्कार उभर कर सामने आवेंगे। अब इन संस्कारों को केवल जानकर बिना प्रतिक्रिया के निकल जाने दें तब तो वह निर्जरित होकर चला जावेगा; लेकिन उसके प्रति कोई भी प्रतिक्रिया की गयी तो फिर नये संस्कारों का निर्माण होगा। अतः पुराने संस्कारों को निर्जरित या क्षय करने का एक ही उपाय है कि जो सामने आ रहा है उसे केवल देखें व जानें, कोई प्रतिक्रिया न करें। प्रतिक्रिया कर किसी संस्कार का निर्माण न करें। यदि यह क्रिया काफी समय तक उद्यमपूर्वक चले तो निर्जरा से पुराने संस्कार या कर्मों का क्षय हो शुद्ध व निर्मल ज्ञान प्रकट होगा जो अभी कर्मों से आवरित है। यह शुद्ध या निर्मल ज्ञान हमारा आगे का जीवन प्रशस्त करेगा और एक अन्तिम सीढ़ी आवेगी जब कर्म-स्कंध क्षय हो केवल ज्ञान व दर्शन के अलावा कुछ नहीं होगा। कर्म-स्कंध से ही शरीर-स्कंध की रचना होती है और कर्म की समाप्ति पर शरीर-

स्कंध स्वतः समाप्त हो कर यह जीव सिद्ध, बुद्ध व मुक्त होने की स्थिति में आ जावेगा।

वेदना, काया व मन की खोज से क्या पाया? जो कुछ हो रहा है वह अनित्य है। जो वेदना प्रकट हुई थोड़ी देर में समाप्त भी हो गई। जो घटना घटी वह समाप्त हो गई। कोई चीज नित्य या स्थायी नहीं। जो उपजा वह समाप्त हुआ। यह क्रम या नियम सब वस्तुओं या घटनाओं पर लागू हो रहा है। यह अनित्य धर्म स्वयं ने जाना व देखा, यह सत्य हाथ आया कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह सब अनित्य है। जो कुछ शरीर पर हो रहा है वह भी अनित्य है। धन, यश, अपयश, सब अनित्य है।

जो चीज अनित्य है, उसके पीछे भाग-दौड़ कैसी? जो चीज नश्वर है, उसके पीछे इतना अहं या पागलपन? यह अब किसी बाहरी व्यक्ति के उपदेश से नहीं, स्वयं की जानकारी से समझ में आने लगी। वह अब धर्म को जानने लगा, देखने लगा। यही है धर्मानुपश्यना। अर्थात् धर्म को देखना। वास्तविक सत्य अर्थात् धर्म को स्वयं ने देखा।

अब वह खूब समझता है कि चित्त को मैला करने से स्वयं ही दुःखी होता है। क्रोध करने पर क्रोध की संवेदना स्वयं अपने शरीर पर देखता है। राग की व द्वेष की सब संवेदना अपने भीतर देखता है। यह देखने पर कि चित्त मैला करने से स्वयं दुखी होता है तो अपना व्यवहार स्वयं बदलता है। यों निज ज्ञान-दर्शन व व्यवहार मे एकरूपता आती है। निज ज्ञान ही स्थायी ज्ञान है और यही चरित्र में परिलक्षित होता है। अपने ज्ञान में विश्वास कर चरित्र सुधारने से व्यक्ति सच्चरित बनता है। यह नैतिकता का स्थायी आधार भी है।

नैतिकता, धर्म, सत्य यह सब खेल दृष्टि-परिवर्तन के है। जीवन व संसार की वस्तुओं के प्रति हमारी क्या दृष्टि है? हम वस्तुओं को महत्व देते हैं या जीवन को? आज के भौतिकवादी युग मे प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं के संग्रह में लगा है। जड़ वस्तुओं के संग्रह से चिन्तन, अनुभूति और भावों में जड़ता आ रही है। वस्तु-संग्रह के लिये यदि किसी की जीवन लीला भी समाप्त हो जाय तो चिन्ता नहीं।

अब इस खबर को हीं लीजिये जो 30 नवम्बर, 1987 को रठ के पास पंछी गांव में घटी। माता और पिता दोनों ने मिलकर पने सात साल के प्यारे बेटे को काली मां के मंदिर पर बलि चढ़ाया जिससे उनको धन, जमीन और कार आदि मिल सकें। मां ने बच्चे से कहा–"मेरे पांव छुओ और जब बच्चे ने शीश नवाया तो मां ने उसे नीचे दबाया और बाप ने कुल्हाड़े से उसका सिर धड़ से अलग कर काली मां के चित्र पर चढ़ाया। कहां गई मां की ममता और बाप का प्यार? सब ममता जड़ हो गई; क्योंकि धन ज्यादा प्यारा था।

ऐसे कई उदाहरण देखने को मिलेंगे जहां भाई-भाई को तथा बेटा बाप को धन या जमीन के लिये समाप्त कर देता है। धन या जमीन कोई साथ लेकर नहीं गया। सिकन्दर भी विश्व-विजय के बाद दो गज जमीन में दफनाया गया; परन्तु यह दृष्टि-परिवर्तन तभी होगा जब अपने अन्दर में झांककर देखें कि हम किस ओर जा रहे हैं। हमारा चिन्तन किधर जा रहा है? हम दिन-रात क्या सोचते हैं? किस के पीछे पागल हो रहे है? यह पागलपन उतर जावे तो जीवन सुधर जावे।

जीवों की हिंसा हम अपने स्वार्थ के लिये करते हैं। चोरी भी इसीलिये करते हैं और झूठ भी इसीलिये बोलते हैं। जब स्वार्थ और तृष्णा को हमने देख लिया व जान लिया और उसकी अधीनता छोड़ दी तो जीवन में सत्य और अहिंसा स्वतः ही आवेगी। फिर इसके लिये उपदेश देने की आवश्यकता कहां रहेगी?

विपश्यना नये समाज के निर्माण का एक ठोस आधार है। जब हर व्यक्ति अपने को जानने व समझने लगेगा और भौतिक वस्तुओं को नश्वर समझ कर उनके पीछे पागल होने की बजाय सम्यक् प्रकार से व्यवहार करेगा तो समाज की वर्तमान में चल रही आपाधापी, निरंकुशता और अनाचार पर रोक लगेगी। वह रोक प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वयं की रोक होगी। बाहरी रोक नहीं होगी। यदि अधिकांश व्यक्ति विपश्यना के आधार पर अहिंसा और अपरिग्रह का नियम लें और भौतिक वस्तुओं के पीछे पागल होकर वस्तु-संग्रह व स्वार्थ के लिये जीवों की हत्या न करें तो एक सुखी समाज का निर्माण होगा। वस्तु के बजाय

प्राणी को अहमियत मिलेगी। धन के बजाय प्राणी को महत्त्व मिलेगा और धनतंत्र के बजाय जनतंत्र की स्थापना होगी।

पारलौकिक मोक्ष से पहले सबको इसी लोक में मुक्ति मिलना आवश्यक है। सुखी जीवन जीने की सही राह मिले, यह जरूरी है। यह स्वयं को देखने से संभव है। स्वयं को जाने बिना स्वयं का सुधार नहीं हो सकता। स्वयं को सही राह पर लाने के लिये स्वयं ही मार्ग प्रशस्त करें। सबका मार्ग एक ही है। परन्तु, हम जानने की कोशिश करें तब न; जो जानेगा वह पावेगा। "जिन खोजे तिन पाईये, गहरे पानी पैठ।" गहराई में जाकर खोजने से ही कुछ मिलेगा। ऊपरी जानकारी से सीप और शंख ही मिलेंगे। मोती तो गहरे पानी में हैं। मन की गहराइयों तक पहुंचने पर गहरी जानकारी और दृष्टि मिलेगी और वही हमारी सही खोज होगी। वही कल्याणकारी और मंगलमय होगी।



योग : जैन एवं वैदिक

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और उसकी तलाश में वह जीवन भर प्रयास भी करता रहता है। शाश्वत सुख किस में है, इस बात का ज्ञान न होने से वह भौतिक वस्तुओं की ओर दौड़ता है और उन में सुख ढूंढ़ता है, परन्तु यह भी सिद्ध है कि बाहरी वस्तुओं में सुख नहीं है। मनुष्य को सुख अपने अन्दर ही खोजना चाहिए। इस पार्थिव शरीर में निहित आत्मा में अनन्त शक्ति व अनन्त ज्ञान है और असली स्वरूप प्राप्त करने पर शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

—गीता, अध्याय १३, श्लोक २२

वास्तव में तो यह पुरुष इस देह में स्थित होते हुए भी, पर अर्थात् त्रिगुणमयी माया से सर्वथा अतीत ही है। केवल साक्षी होने से

उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता एवं सबको धारण करने वाला होने से भर्ता, जीव रूप से भोक्ता तथा ब्रह्मादिकों का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा कहा गया है।

गीता के उपर्युक्त श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि जीव अपने मूल स्वरूप में प्रकृति का साक्षी, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता ही नहीं, ईश्वर भी है। अव्यक्त ईश्वरत्व को सक्रिय करना, जीव को अपने मूल स्वरूप का भान कराकर उसमें रमण करना, जीवन की 'साध' है और उस साध को पूरा करने की क्रिया 'साधना' है।

आत्म-विकास हेतु योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय संस्कृति में इसका प्रमुख स्थान रहा है और समस्त विचारकों एवं ऋषियों ने इसका महत्त्व स्वीकार किया है। मध्यकाल में योग पर विशाल साहित्य की रचना हुई और व्यापक प्रयोग भी हुए।

योग शब्द के दो अर्थ हैं—जोड़ना व समाधि अथवा स्थिरता। योग-साहित्य में दोनों ही अर्थों का प्रयोग हुआ है। पातंजल योगशास्त्र में योग का अर्थ चित्त-वृत्ति-निरोध किया है। चित्त की वृत्तियों को रोक कर एकाग्रता अथवा स्थिरता लाने को योग कहा गया है। बौद्धशास्त्रों में योग का अर्थ समाधि किया है जबकि जैन शास्त्रों में योग का अर्थ मन, वचन, काया को जोड़ने से अथवा संयोग करने से किया है। ऊपरी तौर से इन परिभाषाओं में भेद दिखाई देता है परन्तु वास्तव में इनका अर्थ मन, वचन, काया का निरोध कर स्थिरता लाना व इनका मोक्ष प्रापक मार्ग में प्रवृत्ति कराना है। कवि श्री अमरमुनिजी ने इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा है—"योग का अर्थ समस्त आत्म-शक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया, सब आत्म-गुणों को अनावृत कराने वाली आत्माभिमुखी साधना है।"

महर्षि पतंजलि के अनुसार संस्कार और वासनाओं से प्रेरित चित्त में अनेकानेक वृत्तियों का सृजन होता रहता है और इनसे मस्तिष्क में अस्थिरता उत्पन्न होती है। यदि वासनाओं का दमन किया

जाय तो वृत्तियों का निरोध होगा और मस्तिष्क में स्थिरता आयेगी। संस्कारों को संचित कर्म भी कहा जाता है और ये मनुष्य के पार्थिव शरीर के नष्ट होने के बाद भी आत्मा के साथ ही रहते हैं। कर्माशय या संचित कर्म असम्प्रज्ञान समाधि से प्राप्त ज्ञान से नष्ट किये जाते हैं। अतः शाश्वत शांति एवं सुख चित्त-वृत्ति-निरोध से प्राप्त किया जा सकता है न कि बाहरी वस्तुएँ जैसे धन, स्त्री, पुत्र, परिवार, शोहरत आदि से। मन की शुद्धता से योग साधना में प्रगति प्राप्त होती है। योग साधना में सदाचार, गुरु-भक्ति और क्रोध, माया, मोह, मद, लोभ से मुक्ति पर विशेष बल दिया जाता है। जिस साधक में ये गुण है उसे योग साधना में सफल होने पर कैवल्य और शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। निर्विकल्प समाधि योग साधना का अन्तिम लक्ष्य है: जहाँ कोई विकल्प नहीं है, जहाँ बुद्धि और इन्द्रियों का कार्य समाप्त हो जाता है, अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है, आत्मा में निवास होता है और ऐसी अवस्था को योगी प्राप्त होता है जहाँ शाश्वत, अनन्त और अवर्णनीय सुख की उपलब्धि होती है।

योग के आठ अंग बताये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। यम के पाँच अंग है: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। सद्गुणों के विकास के लिए नियमों का प्रावधान है। नियम का अर्थ धार्मिक प्रक्रियाओं से है जिसमें ईश्वर की भक्ति, परोपकार आदि सम्मिलित हैं। आसन में शरीर-शुद्धि व बैठने की प्रक्रिया सम्मिलित है। शरीर-शुद्धि के लिए धोती, नेती, वस्ती, नोली आदि प्रक्रियायें हैं। 'धोती' पेट व गले की शुद्धि के लिए है। इसमें कपड़े की साफ लम्बी पट्टी को धीरे-धीरे निगल कर वापस निकालते हैं। इसी प्रकार कई लोग सुबह उठ कर काफी पानी पी लेते हैं और फिर उल्टी कर देते है। यह कुंजर क्रिया भी कहलाती है। कई लोग पानी पीकर उसी वक्त गुदा से भी बाहर कर सकते है। इसमें काफी अभ्यास की आवश्यकता है। 'वस्ती' से एनिमा जैसी प्रक्रिया कर आंतों के निचले हिस्से की गंदगी को साफ किया जाता है। यह प्रक्रिया कभी-कभी की जाती है। 'नेती' नाक के नथूनों को साफ करने के लिए

है ताकि श्वाच्छोश्वास में दिक्कत न आवे। डोरे को नाक में डालकर अथवा पानी को नाक से खींच कर वापस निकालने से सफाई की जाती है। 'नोली' में पेट की मांस-पेशियों को पर नियन्त्रण किया जाता है और योगी इच्छानुसार समस्त मांस-पेशियों को बायें, दायें अथवा मध्य में एकत्र कर सकता है। इस प्रकार मांस-पेशियों पर नियन्त्रण होने से पेट कभी बढ़ता नहीं है और न ही कोष्ठबद्धता की शिकायत होती है। ये केवल शरीर शुद्धि की प्रक्रियायें हैं और उनके प्रयोग से बीमारी को दूर रखा जा सकता है ताकि यौगिक साधना में विघ्न उत्पन्न न हो।

'त्राटक' का अर्थ किसी बिन्दु पर स्थिर दृष्टि से अपलक देखने की प्रक्रिया से है। यह क्रिया मन की एकाग्रता एव दृष्टि में स्थिरता लाने के लिए है। मूर्ति, तस्वीर, काला बिन्दु, ॐ, चमकता तारा, दो भौंहों के बीच का स्थान आदि में से किसी पर भी दृष्टि में स्थिरता लाने का अभ्यास किया जा सकता है। साधारणतः आसन पर बैठकर यह क्रिया की जाती है, परन्तु चलते, फिरते लेटे हुए भी की जा सकती है। यह अभ्यास प्रत्येक योगी के लिए आवश्यक एवं लाभदायक है। कई पहुँचे हुए योगी भी इस प्रकार की क्रिया करते रहते हैं जिससे दिमाग में शान्ति, नजर में स्थिरता और विचारों में एकाग्रता प्राप्त हो। यदि अपलक दृष्टि स्थिर नहीं की जा सकती तो साधक आँखें बन्द करके भी काल्पनिक बिन्दु अथवा वस्तु पर विचार स्थिर कर सकते हैं। इस अभ्यास से ध्यान व समाधि में बड़ी सहायता मिलती है।

आसन का अभ्यास इसलिए किया जाता है कि बिना हिले-डुले लम्बे समय तक एक ही आसन से बैठा जा सके। इससे ध्यान लम्बे समय तक निर्विघ्न किया जा सकता है। मुख्य आसन चार हैं—पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन व सुखासन। परन्तु घेरण्ड संहिता में ८४ लाख आसनों का वर्णन है जिसमें ८४ मुख्य माने हैं। आसन कोई भी हो, मुख्य बात यह है कि उससे बैठने में स्थिरता प्राप्त हो और गर्दन, सिर व रीढ़ एक सीधी लाइन में हों।

प्राणायाम से प्राण पर नियन्त्रण किया जाता है। प्राण में ब्रह्माण्ड की समस्त शक्ति निहित है। इस पर जो नियन्त्रण कर सकता

है, असीम शक्ति को प्राप्त करता है। प्राण का बाह्य रूप श्वाच्छोश्वास है। श्वाच्छोश्वास पर नियन्त्रण कर प्राण व मस्तिष्क पर नियन्त्रण किया जाता है। इसके भी कई रूप हैं—सुखपूर्वक, भाष्ट्रिका सूर्यवेद, उज्जयी, पात्विनी आदि। सुखपूर्वक प्राणायाम में बायें नथूने से तीन 'ॐ' बोलें तब तक श्वास लेकर दोनों नथूनों को बन्द कर दिया जाय व श्वास को नीचा व गहरा किया जाय। बारह बार 'ॐ' बोलें तब तक श्वास रोक कर दाहिने नथूने से धीरे-धीरे छः बार 'ॐ' बोलें तब तक निकालना चाहिए। इसी प्रकार दाहिने नथूने से श्वास लेकर बाएँ से निकालना चाहिए। यह अभ्यास धीरे-धीरे बढा कर श्वास रोकने की आदत में विकास करना चाहिए। श्वास उतनी ही देर रोकना चाहिए जितनी देर सुखपूर्वक रोका जा सके।

उपर्युक्त क्रियाओं की मदद से ध्यान व समाधि में स्थित होना योग साधना का अन्तिम लक्ष्य है। एकाग्रता व स्थिरता जैसे-जैसे प्राप्त होगी ध्यान व समाधि मे भी प्रगति होगी। जब तक निर्विकल्प समाधि में प्रगति न हो जावे, साधना पूरी नहीं होती। बीच में कई सिद्धियाँ व लब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं परन्तु उनमें फंसना उचित नहीं हैं। जो थोड़ी सी सिद्धि प्राप्त होते ही समझते है कि उन्होंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया, वे मार्गच्युत हो जाते है। अतः सिद्धियों की प्राप्ति पर न तो आत्म-सन्तुष्टि करनी चाहिए न सिद्धियों का उपयोग करना चाहिए।

कुंडलिनी योग भी एक प्रकार की योग प्रणाली है जिसकी मान्यता है कि यदि क्रियाओं की सहायता से सर्पकुंडल-स्वरूप अनन्त सुप्त शक्ति, जो प्रत्येक मनुष्य में है, उसे जगाने का प्रयास किया जाय और सुषुम्ना के पांच चक्रों में से ले जाकर मस्तिष्क के छठे चक्र सहस्रार में स्थित शिव-शक्ति मे मिलाया जाय और इस प्रकार जो कुंडलिनी शक्ति को जगाकर उच्चतम चक्र तक ले जाने में सफल होता है, ज्ञान व समाधि प्राप्त करता है।

योग प्रणाली का उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन परिचय मात्र है। यह प्रयोग के लिए नही है। इसका विस्तार अन्य कई ग्रन्थों में मिल सकता

है। यहाँ उद्देश्य इस पद्धति से जैन परम्पराओं की तुलना करना है और यह बताना है कि किस प्रकार योग पद्धति से हम लाभ उठा सकते है।

योग पद्धति के अन्तिम उद्देश्य में व जैन सिद्धान्तों में काफी समानता दिखायी देती है। निर्विकल्प समाधि, कैवल्य आदि शब्द जैन दर्शन के कैवल्य ज्ञान से मिलते है। कवि अमर मुनि ने भी बताया है कि योग शास्त्र का अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दर्शन के साथ अधिक साम्य है। शब्द, विषय व प्रक्रिया में भी काफी साम्य है और गहराई से दोनों शास्त्रों का अध्ययन करने से समुचित लाभ उठाया जा सकता है।

योग विषय पर जैन आचार्यों ने भी गहन अध्ययन कर कई ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य शुभचन्द्र आदि इस संदर्भ मे उल्लेखनीय है। उन्होंने जैन शास्त्रों में निहित सिद्धान्तों के आधार पर जैन-योग-विधि का वर्णन किया है। जैनागमों में योग का अर्थ मन, वचन व काया से किया है। इनकी प्रवृत्ति शुभ एवं अशुभ हो सकती है। योगों की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध जैन साधना का मूल ध्येय है। जैन साधना मे ध्यान को मुख्य आभ्यन्तर तप व साधना का प्रमुख अंग माना है। इसमें योग—मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोककर मन को आत्म-चिन्तन मे लगाया जाता है। इस प्रकार निश्चल ध्यान व कायोत्सर्ग के माध्यम से आत्मज्ञान व कैवल्य की प्राप्ति की जाती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ में १००८ श्लोकों में योग विषय का विशद् विवेचन किया है। उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के कारणों को योग कहा है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही योग है। रत्नत्रय का विशेष विवरण देकर, पांच समिति, तीन गुप्ति स्वरूप आठ माताओं का व श्रावक धर्म का विवेचन किया है। ध्यान में स्थिरता लाने के लिए आसन व प्राणायाम का भी विवरण दिया है। प्राणायाम व उसके उपयोग पर २७३ श्लोकों में वर्णन किया है परन्तु इसको मोक्ष मार्ग में सहायक नही माना है। प्रत्याहार, धारणा का संक्षिप्त परिचय देकर ध्यान का विशेष वर्णन दिया है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यान के तरीकों का वर्णन दिया

है। इसके बाद शुक्ल ध्यान के स्वरूप का भी विवेचन किया है। अन्तिम अध्याय में आचार्य हेमचन्द्र ने स्वानुभव से मन-निग्रह, ध्यान व गुरु-भक्ति का वर्णन किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन शास्त्रों में वर्णित योग-निग्रह व पातंजल शास्त्र में वर्णित चित्त-वृत्ति-निरोध में विशेष अन्तर नही है। ध्यान व समाधि का उद्देश्य योगशास्त्र व जैनशास्त्र में एक-सा ही है। अन्तर इतना ही है कि व्यवहार में वैदिक योग प्रणाली मे यम, नियम पर जोर कम दिया जाने लगा और हठयोग के प्रचलन पर, आसन, प्राणायाम व मुद्रा पर अधिक जोर दिया जाने लगा। साथ ही आसन, प्राणायाम से प्राप्त भौतिक सिद्धियों में खो जाने से योग-पद्धति का अन्तिम उद्देश्य अर्थात् ध्यान व समाधि पर भी बल कम हो गया। आसन और प्राणायाम के कठिन अभ्यास को हठयोग का अंग कहा गया है और इसको राजयोग में निषिद्ध भी किया गया है। राजयोग में त्याग भावना व मन, वचन, काया पर ही विशेष बल दिया गया है। परन्तु राजयोग में भी त्राटक, प्राणायाम आदि से मदद ली जाती है जिससे एकाग्रता व स्थिरता प्राप्त हो।

जैन योग पद्धति में महाव्रतो, अणुव्रतों पर विशेष बल दिया गया है और साधक को ध्यान में समता व एकाग्रता लाने के निर्देश दिये है तथा प्राणायाम को मोक्ष मार्ग में बाधक माना है क्योंकि प्राण को बल पूर्वक रोकने का प्रयास करने से मन के चंचल होने का डर है। साथ ही हठयोग की साधना में साध्य और साधना के भेद को भूलने का भी डर है। प्राणायाम और आसन केवल साधन हैं जबकि ध्यान में प्रवेश कर समाधिस्थ होना व कैवल्य प्राप्त करना साध्य है।

यद्यपि जैन योग पद्धति मे ध्यान पर विशेष बल दिया गया है फिर भी वर्तमान की प्रचलित परम्पराओं में इसका प्रचुर प्रचार नही पाया जाता। त्याग व तप–विशेषकर बाह्य तप काफी प्रचलित हैं। सामायिक मे भी भक्ति स्वरूप स्तोत्र व स्तवन का प्रयोग पाया जाता है। ज्ञानार्जन हेतु स्वाध्याय पर विशेष बल कुछ वर्षो से ही दिया जाने लगा है।

साधना को सही गति देने के लिए आभ्यन्तर तप, ध्यान व कायोत्सर्ग पर अधिक जोर देना चाहिए व इसका संगठित प्रचार करना चाहिए। सामायिक में भक्ति स्वरूप स्तवन व स्तोत्र के माध्यम से ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास किया जा सकता है, परन्तु सक्षम निर्देशन के अभाव में कुछ ही साधकों को सफलता मिलती है। अधिकांश साधकों को सही साहित्य व व्यावहारिक एवं व्यक्तिगत निर्देशन न मिलने से ध्यान में स्थिरता व एकाग्रता प्राप्त नहीं होती। साधक को ध्यान में स्थित होने के लिए त्राटक, सरल प्राणायाम, पिण्डस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की प्रणालियों का ज्ञान कराना चाहिए और इनका प्रयोग भी व्यापक रूप में करने के लिए सामूहिक प्रशिक्षण देना चाहिए। ऐसा करने से साधना के मूल अंग—ध्यान का प्रयोग सर्व साधारण में होगा और इससे साधक अपनी साधना में प्रगति ला सकेंगे।



'सम' या समता शब्द बहुत व्यापक एवं गहन है। समता का अर्थ केवल संतुलन (eguilibrium) से नहीं वरन् राग-द्वेष रहित अवस्था, मैत्री, समभाव एव ज्ञान-दर्शन, चारित्र की एकता, इन सब से किया जाता है। जीवन में समता आना जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना है। समता की उच्चस्थ श्रेणी ही उच्चतम सामायिक है, अन्तिम स्थिति है और इसके बाद कुछ करने को नही रहता।

'योग' शब्द का आज जो व्यापक प्रचलित अर्थ है वह तो केवल आसन, प्राणायाम तक सीमित है। दुर्भाग्य से एक आध्यात्मिक शब्द को शरीर की भौतिक क्रियाओं तक सीमित कर दिया गया है। योग शब्द का प्रयोग विभिन्न सदर्भों मे अलग-अलग हुआ है। परन्तु आध्यात्मिक सदर्भ में योग को अध्यात्म का साधन माना है—जिससे 'ब्रह्म' से साक्षात्कार हो या 'मोक्ष' मिले या आत्मा की शुद्धतम स्थिति प्राप्त हो। चित्त-वृत्ति-निरोध या मन, वचन काया के योगों का मोक्ष प्राप्ति से जोड़ना आदि सभी अर्थों में योग आत्मा की उच्चतम स्थिति प्राप्त करने का साधन है।

'सामायिक' शब्द जब 'साधना' के रूप में प्रयुक्त होता है तो यह दो घड़ी या 48 मिनिट के लिये एक स्थान पर स्थित हो गीतार्थ, सद्गुरुओ से विनय, भक्ति, उपासना करने से होता है। इसे, द्रव्य सामयिक' या 'श्रुत सामायिक' भी कहते हैं। इस प्रक्रिया से ज्ञानार्जन, भक्ति-भाव और अनासक्त भावों का प्राप्ति होती है। इसी साधना में ध्यान व कायोत्सर्ग की विधि से मन का शोधन भी किया जाता है।

ध्यान व कायोत्सर्ग की गहन साधना जैन साधुओं ने की, परन्तु बहुत कम साधुओ ने उस विधि को लेखन का रूप दिया या अक्षुण्ण रूप से बनाये रखने का प्रयास किया। कुछ आचार्यों ने, यथा हरिभद्र सूरी व हेमचन्द्राचार्य ने योग के माध्यम से साधना की गूढ़ विधियां अपने ग्रन्थों मे समझाई है। उस काल में 'योग' शब्द जब काफी प्रचलित हुआ तो जैन वाङ्मय और साधना मे योग से मेल खाता या योग सम्बन्धी जितनी भी साधना के सूत्र थे उनको सुव्यवस्थित कर अपने ग्रन्थों, जैसे योगसमुच्चय, योगशास्त्र आदि में यह प्रस्तुत किया कि जैन साधना में

वह सब कुछ है जो योग साधना के नाम से जाना जाता है। बल्कि, इससे आत्मशुद्धि कर मोक्ष की स्थिति भी प्राप्त की जा सकती है।

आचार्य हरिभद्रसूरीजी व हेमचन्द्राचार्यजी की पुस्तकों में यह समझाया गया है कि जैन साधना विधि 'पूर्ण योग' है और सामायिक में योग के सब अनुष्ठान समाहित हैं। योग शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में हुआ उसके पहले जैन साहित्य में हुआ।

योग और सामायिक शब्द जब तक 'साधना' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं दोनों समान अर्थ रखते हैं, क्योंकि साधना साध्य प्राप्ति के लिये होती है। दोनों का साध्य मोक्ष प्राप्ति या आत्मा की शुद्ध स्थिति प्राप्त करना है। योग केवल साधना है। सामायिक साध्य भी है। सामायिक की स्थिति में पहुंचना, अर्थात् समता की उच्चस्थ श्रेणी या वीतराग दशा प्राप्त करना ही मोक्ष है।

□

भगवान महावीर : जीवन एवं दर्शन

भगवान महावीर ईसा से 600 वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध के समकालीन काल में हुए थे। वे जैन धर्म के 24 वें व अन्तिम तीर्थंकर थे जिन्होंने जैन धर्म को नये रूप में जनता के समक्ष रखकर समाज मे उस वक्त व्याप्त हिंसा व अन्य कुरूढ़ियों को समाप्त किया। वे उस काल के क्रान्तिकारी युग पुरुष थे परन्तु उनके उपदेश शाश्वत हैं जो आज भी समीचीन और उपयोगी ही नहीं, युग की मांग है।

जब तक माता-पिता जीवित रहे, महावीर जिनका बालपन का नाम वर्द्धमान था, ने सन्यास का नाम नहीं लिया, यद्यपि जिस तरह वे घर मे रह रहे थे वह ऊपरी रूप ही था। अंतरंग में सन्यास ही था। उनके माता-पिता के निधन के एक वर्ष बाद 20 वर्ष की उम्र में महावीर ने घर छोड़कर संन्यास लिया और स्वानुभूति व ज्ञान प्राप्त करने को चल पड़े। 12 वर्ष तक कठिन तपस्या की व कष्ट भोगे। यद्यपि कई

धर्म परम्परायें प्रचलित थीं और जैन धर्म के 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु भी थे परन्तु, उनके पास दीक्षित न होकर स्वय ने अपनी राह ढूंढना ही उचित समझा। शास्त्रों और गुरुओं से अप्रत्यक्ष ज्ञान धारण करने की वजाय 12 वर्ष की कठिन तपस्या स्वयं ज्ञान प्राप्त करने के लिये की।

इस तपस्या में कई कष्ट आये। एक वार ध्यान-मग्न महावीर को ग्वाले अपने बैल सम्हला कर गये। परन्तु महावीर को क्या पता, वे तो ध्यान में मग्न थे। बैल कहीं चले गये। ग्वाले वापस आये और अपने बैल मांगे। महावीर फिर भी ध्यान-मग्न, उन्होंने कोई जवाव नहीं दिया, ग्वालों को क्रोध आया और कहा "तू वहरा है क्या ?" और उन्होंने महावीर के कान में लकड़ी की कीलें ठोक दी जिससे अपार वेदना हुई, परन्तु महावीर समता में निश्चल खड़े रहे।

चडकौशिक सर्प जो उस समय का महान विषधर माना जाता था, उसकी वाँवी पर जाकर महावीर ने ध्यान लगाया और उसे वोधिज्ञान दिया। सर्प भी अपने पूर्व भव का ज्ञान प्राप्त कर विषधर का स्वभाव छोड़ निश्चल होकर पड़ गया।

भगवान महावीर ने अपनी चेतना को इतना व्यापक बनाया कि प्राणी मात्र को सुख-दुःख की अनुभूति उनकी अनुभूति में आये। वे मूक प्राणी, जिनके पास अभिव्यक्ति का कोई साधन नहीं उनके साथ भी अपनी अनुभूति मिलाने का प्रयास किया। 12 वर्ष की कठिन तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान प्राप्ति हुई जिसे 'केवल्य' या केवल ज्ञान कहते है। यह आत्मा की उत्कृष्ट स्थिति है।

प्राप्त केवलज्ञान से 30 वर्ष तक भगवान महावीर जनपद में पैदल विहार कर जनता को उद्‌वोधित करते रहे और लोगों को सही मार्ग वताया। जनता की प्रचलित प्राकृत भाषा में ही उपदेश दिया जिससे जन साधारण तक उनका संदेश पहुंच सके। उस वक्त की प्रचलित क्रूर परम्पराओं पर कुठराघात भी किया और धर्म का ऐसा रूप प्रस्तुत किया जो शाश्वत और सार्वजनीन है, जिसमें किसी संप्रदायवाद, जातिवाद या संकुचितता का स्थान न हो।

उन्होंने स्वानुभूति से सर्वप्रथम यह घोषणा की कि कोई भी प्राणी दु:ख नहीं चाहता है और न मरना चाहता है, अतः किसी भी प्राणी को दु:ख न पहुचाओ। 'अहिसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त इसी अनुभूति से उद्भूत हुआ। अहिसा को जीव न मारने की निषेधात्मक सीमा में नही बांधा। *किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का संक्लेश पहुंचाना भी* हिंसा में शामिल है, अन्य प्राणियो के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा स्वयं दूसरों से अपने लिये अपेक्षा करते हैं। अन्य शब्दों में, अपनी अनुभूति को इतना व्यापक बनावें कि दूसरों का सूक्ष्म संक्लेश भी अपने को ऐसा ही महसूस हो जैसा कि उसको हो रहा है। यदि यह व्यापक रूप में हो तो हिंसा का स्थान जीवन में रहना असम्भव है। यही उद्घोष दशवैकालिक सूत्र में निम्न प्रकार से आया है :—

तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेणं देसियं ।
अहिंसा निनुणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो ॥
सव्वजीवा विइच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वा ज्जयंति णं ॥

अर्थात्, व्रतों में अहिंसा का सर्वप्रथम स्थान महावीर द्वारा उपदिष्ट है। महावीर के द्वारा अहिंसा सूक्ष्म रूप से जानी गई है और उसका सार है, सब प्राणियों के प्रति करुणा भाव। सब ही जीव जीने की इच्छा करते है, मरने की नहीं। इसलिये संयत व्यक्ति उस पीड़ादायक प्राणवध का परित्याग करते है, निषेध करते है।

इसी सदर्भ में उस वक्त में प्रचलित अश्वमेध आदि यज्ञों में हिंसा पर आघात करते हुए महावीर ने कहा कि किसी भी प्राणी की हिंसा धर्म का अंग नहीं हो सकती। इसका व्यापक असर हुआ और यज्ञों में हिंसा बन्द हुई।

महावीर की अहिंसा इतनी व्यापक है कि इसमें सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रत अपने आप शामिल हो जाते हैं। झूठ, चोरी या व्यभिचार करने वाला अहिंसा का पुजारी हो ही नही सकता। अपरिग्रह का सिद्धान्त उस वक्त की प्रचलित विचारधारा के लिये नया

था और इसी पर अधिक जोर दिया। अपरिग्रह का सिद्धान्त यद्यपि अहिंसा का अंग है परन्तु इस पर अलग से टिप्पणी आवश्यक है।

परिग्रह का अर्थ किसी भी वस्तु में मूर्च्छा होना है। साधारणतया हम देखते हैं कि मानव धन, धरती, सुरा, सुन्दरी आदि में मूर्च्छित रहता है और इन्हीं के सग्रह में अपना जीवन खपा देता है। जीवन के जितने कष्ट या संग्राम होते हैं वे इन्हीं के सग्रह या संरक्षण के लिये होते हैं। यदि इन पदार्थों से मूर्च्छा हट जावे तो जीवन अहिंसा से परिपूर्ण एवं सुखमय हो सकता है। जीवन की आवश्यकताओं को सीमित करना, सग्रह को सीमित करना और उनसे मूर्च्छा हटाना अपरिग्रह है। आज की समाजवादी संकल्पना और गांधी के 'ट्रस्टीशिप' सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में देखने से ज्ञात होगा कि सामाज को विषमताओं को हटाने के लिए अपरिग्रह का सिद्धान्त कितना आवश्यक है ? समाजवाद का समानता का सिद्धान्त ऊपर से लादी गई समानता है जबकि अपरिग्रह अन्तर से प्रकट भावना है। जो चीज ऊपर से लादी जाती है वह शीघ्र हट जाती है, परन्तु अन्तरंग से अपरिग्रह की भावना स्थायी होती है।

न केवल व्यवहार में वरन् विचार मे भी अहिंसा होना आवश्यक है। अनेक बार विचारों में एकाकी दृष्टिकोण अपनाने से सघर्ष होता है। यदि संसार का इतिहास देखा जाय तो धर्म के नाम पर युद्ध एकाकी दृष्टिकोण अपनाने और दूसरे के विचारों को सहानुभूति से न देख पाने के कारण हुए है। इसी बात को महावीर ने अनेकान्त या स्याद्वाद के सिद्धान्त के रूप में प्रकट किया। सत्य एक पक्षीय नहीं है, इसके अनेक पक्ष हैं और किसी एक पक्ष को पकड़कर दुराग्रह नही करना चाहिये। एक मिट्टी का घड़ा, घड़े के रूप में घड़ा है परन्तु मूल रूप में मिट्टी भी है। एक दृष्टिकोण से घड़ा है और दूसरे दृष्टिकोण से घड़ा नही है। इसी प्रकार एक दृष्टिकोण से आत्मा एक है और दूसरे दृष्टिकोण से आत्मा अनेक है। एक दृष्टिकोण से आत्मा स्थायी है और दूसरे दृष्टिकोण से आत्मा स्थायी नहीं है। इस तरह भगवान महावीर ने उस काल के प्रचलित विवादों को सुलझाने के लिये अनेकान्त का दृष्टिकोण दिया और एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न करने को प्रेरित किया।

विचारों में सहिष्णुता के अभाव ने ही कालान्तर में स्थूल हिंसा का रूप लिया।

अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धान्तों को प्रतिपादित कर भगवान महावीर ने दार्शनिक जगत मे हलचल मचा दी। साथ ही ईश्वर, कर्म और मोक्ष की संकल्पनाओं मे भी क्रान्तिकारी विचारों को प्रस्तुत किया। ईश्वर हमारे दु:ख-सुख का कर्ता नहीं है। स्वर्ग, नरक, दुःख व सुख सब हमारे अपने कर्मों के फल हैं। एक जगह कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाणय सुहाणय,
अप्पा मित्त ममित्त च, दुपट्ठिय, सुपट्ठिय।

—उत्तराध्ययन सूत्र

व्यक्ति स्वय अपने दुःख व सुख का कर्ता है। वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

अपने दुःखों का दोष जो ईश्वर पर मढते है वे अपनी अकर्मण्यता का परिचय देते है। व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। भाग्य पर निर्भर न बन कर कर्म पर निर्भर बनना चाहिये। स्वयं कर्म क्षय करके सुख प्राप्त कर सकते है और कर्म सचित कर अपने जीवन को दु.खी बना सकते है।

भगवान महावीर ने जाति-पांति, वर्गभेद और किसी वर्ग विशेष की श्रेष्ठता पर भी गहरा आघात करते हुए कहा कि मुक्ति पाने के लिए किसी जाति, वर्ण या लिंग की आवश्यकता नही है। सब आत्माओं में एक-सी शक्ति निहित है। जो भी अपनी शक्ति को पहचानकर इसे जगा-लेगा वही इसका सुख प्राप्त करेगा।

जातिभेद और वर्ण भेद धर्म की मूल भावना के प्रतिकूल हैं। प्राणीमात्र के प्रति दया, सबके साथ ऐसा व्यवहार जैसा हम अपने लिये चाहते हैं और विचारों मे सहिष्णुता, यही धर्म के मूल है और इस पर किसी भी संप्रदाय की बपौती नहीं हो सकती। सच्चा 'धर्म' वही है जो इन सिद्धान्तों को माने। शेष धर्म की संज्ञा में नही आ सकते। यदि आज व्यवहार में विकृतियां हैं तो धर्म की नहीं, संप्रदाय के ठेकेदारो की है जिन्होंने निजी स्वार्थ के लिये धर्म को विकृत किया है।

साधक अपना बल, पराक्रम, श्रद्धा व आरोग्य देख कर और देश, काल को जान कर अपने कर्तव्य में लगे। कर्तव्य में ही धर्म निहित कर्तव्य मे ही हेय-उपादेय का विवेक और काल की समीक्षा निहित है। धर्म परिपाटी या रूढि मे नहीं है। महावीर की यह घोषणा धर्म को पुराना नही पड़ने देती। धर्म सर्वकालीन और सार्वजनीन है और किसी भी जाति, सम्प्रदाय, लिंग अथवा वर्ण की सीमाओं से परे है।

